आर्जुनमालाकारम्

...श्रमणमुनीना–
...म्

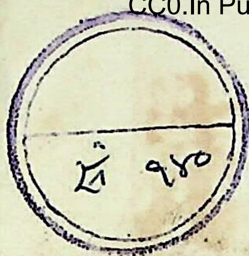
...बन्धुरं गद्यकाव्यम् ।
...ऽस्य वचनरचनाऽनुर-
...चेतांसि । कानिचित्
...हरति बाणभट्टीयां

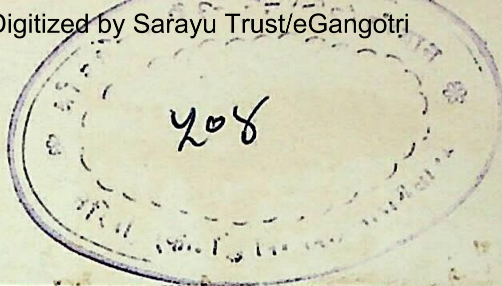
...ता काव्यकृतिस्तस्य
...गाम्भीर्यम् । साम्प्रत-
... चन्दनमुनि सदृशाः
...ते मे मनोगर्वमुद्वहति
...समृद्धौ समुल्लेखनीयं
... कोऽपि सन्देहलेशः ।

...ही मां शारदा के
...व नवोन्मेषशालिनी
...यी को भाव विभोर
... धर्म की असिधारा
...वे इतने अस्खलित
... दैवीचमत्कार ही

...रचना को कवि की
...नां निकषं वदन्ति"
...कवि को इस कसौटी
..., मैंने पाया कि भाव
...वे खरे उतरे हैं ।

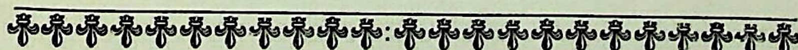
...२०४
...स्थान
...लौटानेकी


९४०


५०४

आर्जुनमालाकारम्
(गद्यकाव्यम्)

साहित्य-निकाय व्यवस्थापक:
श्री चन्दन मुनिः





आर्जुनमालाकारम्

(गद्यकाव्यम्)

(हिन्दी भाषानुवादसंवलितम्)



लेखक :
साहित्यनिकाय-व्यवस्थापक :
श्री चन्दन मुनिः



अनुवादक :
समाजभूषण श्री छोगमल चोपड़ा
बी० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक :
श्री रामलाल हंसराज गोलछा
विराटनगर (नेपाल)

पुस्तक
आर्जुनमालाकारम्
(गद्यकाव्यम्)

अनुवादक
समाजभूषण श्री छोगमलजी
चौपड़ा B.A., LL.B.

व्यवस्था निर्देशक
छाजेर प्रकाशन
श्री ताराचन्दजी छाजेर
बेंगलोर

प्रबन्धक
श्री मोतीलाल पारख
श्री ब्रह्मदेवसिंह

अर्थ-सौजन्य
श्री रामलाल हंसराज गोलछा
विराटनगर (नेपाल)

प्रथम संस्करण
जनवरी
१९६९

प्राप्ति स्थल

रामलाल हंसराज गोलछा
द्वारा :
हुलास मेटल क्राफ्ट प्रा० लि०
विराटनगर (नेपाल)

रामलाल हंसराज गोलछा
रतनगढ़ (राजस्थान)

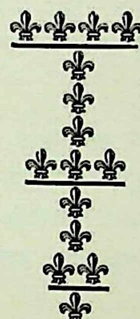
छाजेर प्रकाशन
शांति भवन
६४ ए० एम० लैन
चिकपैठ, बेंगलोर-२ A

मोतीलाल पारख
श्यामसुखा हाउस,
ढढ्ढों का चौक, बीकानेर

मुद्रक
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस
१/११ महात्मा गांधी मार्ग
आगरा-२

मूल्य
तीन रुपया

समर्पणम्



जीवन-साधनाया अमरसहयोगिनां

पितृचरणानां

श्री केवलचन्द्रस्वामिनां

चरणारविन्देषु



प्रकाशक के दो शब्द

* साहित्य वही है, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए परम हितकारी सिद्ध हो। ऐसा अमूल्य साहित्य, भारतीय संस्कृति में आत्मदर्शी ऋषि-मुनियों ने समय-समय पर जिज्ञासु-जनों को दिया, जिसके द्वारा दिग्भ्रान्त व्यक्तियों को दिशा-संकेत मिला, अज्ञानावृतचेतना को सद्ज्ञान की उपलब्धि हुई और उत्कृष्ट अध्यात्म-भावना जागृत हुई।

* प्रस्तुत रचना भी एक चिन्तनशील, अध्यात्म-योगी, साधनारत, साहित्यकार मुनि श्रीचन्दनमलजी की अमरकृति है, जो वर्षों से संयम-साधना के साथ-साथ साहित्य-सेवा भी कर रहे हैं।

* अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल में तेरापंथ संघ में सार्वजनीन, बहुमुखी, उच्चस्तरीय साहित्य का निर्माण द्रुतगति से चल रहा है और प्रकाश में भी आ रहा है। आगम-संशोधन जैसा भगीरथ कार्य भी गतिमान् बन रहा है। उसमें सहयोग प्रदान करना हम श्रावकों का भी पुनीत कर्त्तव्य है।

* 'आर्जुनमालाकारम्' जैसी गंभीर साहित्य-कृतियों का भाव मेरे जैसे व्यवसायरत व्यक्ति के लिए समझ पाना व हृदयंगम कर लेना सम्भव नहीं लगता। फिर भी ऐसा सुन्दर एवं उपयोगी साहित्य मेरे यत्किंचित् सहयोग से विद्वानों, पाठकों तक पहुँच पाए, इसी में मेरी आत्मतुष्टि व श्रम सार्थकता है; क्योंकि सत्साहित्य को प्रकाश में लाना "अर्थ और श्रम का सदुपयोग है" ऐसी मेरी मान्यता है।

* सहयोगात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुतकाव्य का हिन्दी भाषानुवाद समाजभूषण श्री छोगमलजी चोपड़ा B.A., LL.B. ने किया है, जो श्री जैनश्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता के वर्षों तक मंत्री व अध्यक्ष पद को अलंकृत करते रहे हैं। जिनकी सादगी, प्रामाणिकता, कर्त्तव्य-निष्ठा तथा व्यवहार-पटुता सराहनीय होने के साथ-साथ हमारे लिए अनुकरणीय भी है। यद्यपि आपका संस्कृत व हिन्दी अध्ययन बंगाल प्रान्त में शिक्षा-ग्रहण करने के कारण बंगालीभाषा के माध्यम से ही हुआ है, फिर भी संस्कृतग्रन्थों के विशेष अध्ययन से आप उनका भावार्थ सहज ही हृदयंगम कर लेने में सक्षम हैं। सम्बोधि आदि कतिपय संस्कृत ग्रन्थों का भाषान्तर हिन्दी तथा अंग्रेजी में आपने बड़ी सरलता से किया है। वर्तमान समय में आपकी आयु लगभग पचासी वर्ष की है। ऐसे कठिन काल में भी आपके उत्साह और क्रियाशीलता को देखकर महान् आश्चर्य होता है।

* बंगाली-मिश्रित आपकी हिन्दी भाषा को न्यायतीर्थ श्री शोभाचन्द्रजी 'भारिल्ल' (जो विशाल साहित्य का सम्पादन कर चुके हैं) के अंगुली-स्पर्श ने एक ऐसा निखार ला दिया है, जो पाठकों को अनुवाद-सा प्रतीत न होकर एक स्वतन्त्र-काव्यग्रन्थ-सा लगता है। अतः इन महानुभावों के श्रम का हृदय से स्वागत करता हुआ मैं कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

छाजेर-प्रकाशन के व्यवस्थापक उत्साही कार्यकर्ता श्री ताराचन्द जी छाजेर (बेंगलोर) धारक, श्री सोहनलालजी चण्डालिया (राजलदेसर), प्रबन्धक श्री मोतीलाल जी पारख (बीकानेर) व श्री ब्रह्मदेवसिंहजी (गौंड़े-प्रतापगढ़) का सहयोग विशेष प्रशंसनीय रहा है। मुद्रण-व्यवस्था में विशेष सहयोग प्रदान करने वाले श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' (आगरा) ने अत्यन्त सावधानी व मनोयोगपूर्वक इस पुस्तक के हर पहलू को सुन्दर व आकर्षक बनाया है। उन्हें शतशः साधुवाद देता हुआ प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

१ जनवरी, १९६९
विराटनगर (नेपाल)

—रामलाल हंसराज गोलछा

स्वतः

इतो विंशतिवर्षेभ्यः पूर्वं यदाऽहमासं पञ्चापप्रान्ते[1] विहरमाणः। नाभानगरे सुखां प्रावृषेण्यां स्थितिं प्रपूर्य सानन्दं समाप्ति-स्पर्शनं विधाय पट्वालयपुरं[2] प्राप्तवान्। हेमन्तं तारुण्यमानयमानो हिमालयसन्निधानतः प्रालेयपात-दुस्सहो दीर्घत्रियामः सहस्यो[3] मासस्तदानीम्। अप्राप्तबहुपरिचयास्तत्रत्या जनाः, तेन न संकुलता प्रायः श्रावकाणाम्। सुतरां लब्धाऽवकाशेन मया प्रारब्धमस्तब्धकाव्यनिर्माणम्। भूरिपरिश्रमेण सुविहितपाठस्मरणं नवीनमासीद् मदीयं व्याकरणं पाठनेन पुनः। सुस्पष्टघोषो निर्दोषः कोषोऽपि स्मृतिपटमलङ्करिष्णुः। अनेकनव्यानव्यभव्यकाव्यावगाहनेन अधिहृदयं प्रवहमानाः समुज्ज्वलाः साहित्यरसधाराः। प्रारब्धं झगिति तद् विलसद् विशदभाववर्ति गतिमासदद् निष्प्रत्यूहम्। चलिता प्रातः सायं लेखनी विलम्बमसहमाना। पूर्तिमापन्न् पृष्ठानामुपरि पृष्ठानि, तेन सावकाशाः समुच्छ्वासा अपि समुच्छ्वसिताः समजनिषत। नूनं तन्मयतामाराधयता मया एतत्काव्यं निर्मितिमानीतम्। विरचितदेशीयेऽस्मिन् काव्ये सहसा समभवद् गमनमस्माकमुपाचार्यपादं स्थलीप्रदेशे माघमहे। पुनस्ततो विहरता अजेयमेरु[4]-परिसरे परिभ्रमता काव्यमिदं पूर्तिमानीतम्। उत्तरोत्तरं मन्निर्मिता या गद्यकाव्यत्रयी तत्र पौरस्त्यमिदं प्रकृतम्।

१—पंजाब प्रान्त २—पटियाला ३—पौषमासः ४—अजमेर

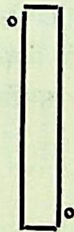
नात्र निगूढशब्दशाम्बरी-कादम्बरीवद् विसंकटसैरन्ध्रीपटविततानि, अतुच्छ-समासविन्यासदुरधिगमानि, प्रतिपदमभिनवश्लेषविशेषक्लिष्टानि, नवनवोपमाना-समानभावभासुराणि, अप्रतिमबुद्धिवैभवसमभ्यसनीयानि च प्रकरणानि । अत्र तु सहसाऽल्पमतिवेद्यनिरवद्यपदावलिविलसितानि, प्रस्फुरत्प्रत्यग्रवैयाकरणप्रयोग-प्रोन्मिषितानि, नानापर्यायवाचिसंज्ञासंकेतितानि, धार्मिक-सामाजिक-नीतिप्रतीति-प्रोन्मीलितानि नातिविशालानि वर्णनानि । तेनेह अध्येता प्रलम्बारण्याध्वनि ससाध्वसं प्रवर्तमानाऽध्वग इव न गमनखेदमनुभविष्यति, प्रत्युत सुग्राह्यगम्य-पदानि सहसाऽऽत्मसात्कुर्वाणोऽग्रेसरतां प्रतिपत्स्यतेतरां निःसंशयम् ।

विशेषतः—इदानीन्तने युगे विचित्रचलचित्रप्रेक्षणचञ्चलचेतसाम्, उद्-भवद्विकारशृङ्गाररसप्रधानगानैकरसिकानाम्, कुमारी-कुमाराणां सहाध्यायः प्रायो महाविद्यालयादिषु । तेषां पुरतोऽभिज्ञानशाकुन्तल-कुमारसंभवादिमहा-काव्यानां तात्पर्याविर्भावयद् भृशं काठिन्यमनुभवतितरां अपत्रपिष्णु मानसमध्या-पकमहोदयानाम् । तत्रजागर्ति स्वयमेवैतादृशानां काव्यानां प्रबलतमाऽपेक्षा, येषु स्पष्टमुल्लसति सात्त्विकी प्रवृत्तिः, तात्त्विकी चर्चा, सदाचारनिष्ठा, कर्तव्यबोधः, माहात्म्यमहिंसायाः, हिंसाया वैकल्यं च; तेनविस्मृतप्राया समीचीना प्राचीना भारतीय-संस्कृतिर्लब्धप्रतिष्ठा स्यात् । गैर्वाणीं वाणीमध्येतुकामाश्छात्रास्तदव-बोधेन साकं लभेरन् जीवनोपयोगिपाठमपि । तादृशी पूर्तिश्चेदनेन काव्येनांशतोऽपि संभविष्यति तर्हि मम श्रमेणाऽवश्यमीषदुपकृतमिति मंस्यते मामकं चेतः ।

पुनरत्र वर्षीयसा समाजभूषणोपाधिविभूषितेन श्री छोगमलजिच्चोपडा-महोदयेन यदनुदितं सरलहिन्दीभाषायां काव्यमिदम्, ततः संस्कृतभाषाऽनभिज्ञा अप्यस्य वीरतोपजीविकथानकस्य रसं पातुं प्रत्यला भविष्यन्ति, तेन साधारण-जनेष्वपि भावीदं पुस्तकमवश्यमुपयोगीति आशास्ते ।

सं० २०२५ पौषकृष्णाद्वितीयायाम्
मैसूर प्रान्तान्तर्गते बेंगलूर नगरे

—चन्दनमुनिः



भूमिका

अर्जुनमालाकारम् इतिनामकमेतत्काव्यं जैनवाङ्मये सुप्रसिद्धस्य 'अर्जुन' इत्यभिधस्य मालाकारस्य आख्यानेन सम्बद्धं विद्यते । काव्यकर्त्तुः संस्कृतभाषानिबद्धमेतत् प्रथममेव गद्यकाव्यमस्ति । अस्य निर्मितिः पञ्चोत्तर द्विसहस्रपरिमिते विक्रमाब्दे समजनि । शिक्षार्थिनां शिक्षण-प्रक्रियायां सहयोगं दातुकामेन कवयित्रा निरमायि काव्यमेतद । अस्य प्रशस्ति-श्लोकेषु कविः स्वयमभिव्यनक्ति "कृतः श्रमोऽयं तदनुग्रहेण, लघीयसां बोधविवृद्धिहेतोः ।"

काव्यकारो श्री चन्दनमुनिः प्रतिभा-विभा-विभासित-व्यक्तित्वेन सम्पन्नश्चकास्ति । स्वयं साधनाप्रियत्वात् तत्काव्य-प्रतिभापि तदध्वानमेवानुसरेदिति नास्वाभाविकम् । अयमेव हेतुर्यन्निज-भावाभिव्यक्तये स किमपि शृङ्गाररसप्रधानमाख्यानं विहाय शान्तरसमूलकमध्यात्मभावसंभृतमाख्यानमेवाचैषीत् । अस्यां काव्य-निर्मितौ कविना पुराण-परम्पराया स नियमो न मानितो यस्यानुसारं काव्यस्य नायकेन केनचिल्लोक-प्रसिद्धेन, उच्चकुलोद्भवेन धीरोदात्तेनैव नरेण भवितव्यम् । अस्य काव्यस्य नायकोऽस्ति एकोऽतिसाधारणो जनः अर्जुन नामधेयो मालाकारः ।

'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति' अयमस्य काव्यस्य मूलस्वरोऽस्तीति वक्तुं पार्यते। यच्च; एकस्या अघटनीयघटनाया आघातेनाहतोऽर्जुनः समग्रां मानवजातिं प्रति विद्रोहिभावमापन्नः प्रतिदिनं सप्तजनव्यापादन-संकल्पजाल-जटिलमानसः समजनि। स एव च कालान्तरे अन्यघटनाप्रभाव-प्रेरितः प्रतिःबुद्ध सन् भगवतो महावीरस्य शिष्यत्वमुरीकृत्य अहिंसासाधनानिरतः स्वपरकल्याणहेतुरभूत्। अनेन एतदपि सुस्पष्टीभवति यन् मनोरपत्यानां पतनोत्थाने अनन्तसंभावनासंकुलिते स्तः। ततो निश्चप्रचमेतन्निगदितुमवकाशोऽस्ति यत् पतनगर्त्तावर्त्ते बंभ्रम्यमाणस्यापि पुंसः पुनरुत्थानावसरस्य समुज्ज्वलाशा न कदाचिदपि धूमाविला भवितुं शक्यते।

काव्यशब्देन साकं प्रायः पद्यात्मकताया बोधो बलात् संयुज्यते, परन्तु गीर्वाण-गिरि पद्यात्मकानामिव गद्यात्मकानामपि काव्यानामविच्छिन्ना परम्परा विराजते। "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" इति समुल्लेखेन विबुध-भारती-विशारदाः कवि-निकषत्वेन पद्यतोऽपि गद्यं बहु अमंसत। मुनिप्रवरेण गद्य-काव्य-परम्परा यत्राग्रे नीता तत्र सुर-भारती-भाण्डागारश्रीरपि विवर्द्धिता। सुतरां सर्वथा स्तुत्योऽसौ प्रयासः। विद्यार्थिवर्गः स्वयमनेन समुचितंलाभान्वितो भविष्यतीति विश्वसिमि।

वि० सं० २०२५ पौषशुक्लसप्तम्याम्
तेरापंथ भवने, मद्रासनगरे

—मुनि-बुद्धमल्लः



भूमिका (हिन्दी)

'आर्जुनमालाकारम्' नामक यह काव्य जैन वाङ्मय में सुप्रसिद्ध अर्जुन नामक मालाकार के आख्यान से सम्बद्ध है। काव्यकार का संस्कृत भाषा में निबद्ध यह प्रथम गद्यकाव्य है जो कि वि० सं० २००५ में बनाया गया था। उन्होंने यह काव्य लघु शिक्षार्थियों की शिक्षण-प्रक्रिया में सहयोग देने की भावना से प्रेरित होकर बनाया है। काव्य की पूर्ति पर प्रशस्तिश्लोक लिखते हुए वे स्वयं कहते हैं—"कृतः श्रमोऽयं तदनुग्रहेण लघीयसां बोध-विवृद्धिहेतोः"

काव्यकार मुनि श्री चंदनमलजी एक प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति हैं। वे स्वयं साधना-प्रिय हैं, अतः उनकी काव्य-प्रतिभा भी उसी मार्ग का अनुसरण करे यह स्वाभाविक है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए किसी शृंगार प्रधान आख्यान को नहीं चुनकर शान्तरसमूलक आध्यात्मिक आख्यान को ही चुना। उन्होंने इस काव्य-निर्माण में प्राचीन परंपरा के उस नियम को मान्य नहीं किया है, जिसके अनुसार काव्य का नायक कोई लोक-प्रसिद्ध, उच्चकुलोद्भव और धीरोदात्त व्यक्ति ही होना चाहिये। इस काव्य का नायक एक अतिसाधारण अर्जुन नामक माली है।

'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति' यह इस काव्य का मूल स्वर कहा जा सकता है। एक घटना विशेष के प्रभाव से अर्जुन समग्र मानवजाति के प्रति विद्रोही बन बैठा। प्रतिदिन सात व्यक्तियों को मार गिराने का महान् हिंसक संकल्प उसके मन में बद्धमूल हो गया। कालान्तर में दूसरी घटना के प्रभाव से वह प्रतिबुद्ध हुआ और भगवान् महावीर का शिष्य बनकर अहिंसा-धर्म की साधना करता हुआ स्व-पर कल्याण का हेतु बन गया। इससे यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के पतन और उत्थान की अनंत संभावनाएँ हैं। तो फिर यह सुनिश्चित है कि पतित हो जाने पर भी मनुष्य के पुनः उत्थान की उज्ज्वल आशा कभी धूमिल नहीं हो पाती।

काव्य शब्द के साथ प्रायः पद्यात्मकता का बोध जुड़ जाया करता है, परन्तु संस्कृत भाषा में पद्यात्मक काव्यों के समान गद्यात्मक काव्यों की परंपरा भी रही है। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' कहकर संस्कृत-मनीषियों ने कवि की कसौटी के रूप में पद्य को नहीं, गद्य को मान्य किया है। मुनिश्री ने गद्यकाव्य की परंपरा को जहाँ आगे बढ़ाया है, वहाँ संस्कृत-भारती के भंडार की भी श्री-वृद्धि की है। मुनिश्री का यह प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। विद्यार्थी इससे समुचित लाभ उठायेंगे—ऐसा विश्वास करता हूँ।

वि० सं० २०२५ पौष शुक्ला ७
तेरापंथ भवन, मद्रास

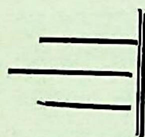
—मुनि बुद्धमल्ल

निर्देशिका

आर्जुनमालाकारम्

(गद्यकाव्यम्)

साहित्य-निकाय व्यवस्थापकः
श्री चन्दन मुनिः



प्रथमः समुच्छ्वासः

मङ्गलाचरणम्

शमरसपरिपूर्णाऽऽमुद्रितोन्निद्रदृष्टिः[1],
सकलभयविमुक्ता निश्चला ध्यानमुद्रा।
भवतु जिनपतीनां बद्धपद्मासनानां,
भवदव-दरितानां देहिनां शान्तिदात्री ॥१॥

प्रतिवचनपटिष्ठा सूक्ष्मतत्त्वैकनिष्ठा,
व्यपगतभयकोपा नव्यदृष्टान्तदक्षा।
अनुसृतजिनवाक्या भूरिसन्देहहर्त्री,
जयतु जयतु [2]भिक्षोर्बुद्धिरौत्पातिकी सा ॥२॥

शीर्षे करं प्रेमयुतं ददान,
ईषद्धसामाकृतिमादधानः।
"मूर्खो न वेत्तीति" वचो ब्रुवाणः,
पायात्सदा कालुगणेश्वरो माम् ॥३॥

---

१. उन्निद्राचासौदृष्टिश्च उन्निद्रदृष्टिः, आ-ईषन्मुद्रिता उन्निद्रदृष्टिर्यस्यां सा ध्यानमुद्रा।

२. भिक्षुस्वामिनः।

या हृद्हिमाद्रश्चलिता नितान्त-
प्रसन्नवैराग्यजलेन पूर्णा ।
पुनातु दुर्णीतिमलं हरन्ती,
वाग्जाह्नवीयं तुलसीप्रभूणाम् ।।४।।

"अचिन्तनीयो महतां प्रभावः"
शोऽश्रूयते सूक्तिरियं बुधानाम् ।
सा[1] सत्यतां याति च वस्तुतोऽपि,
जनेषु तद्भासित-भावनेषु ।।५।।

किं वस्तुजातं वसुधातलेऽस्मिन्,
विभाति यन्नो महतां प्रभावात् ।
आविर्भवेद् भव्यहृदां पुरस्तात्,
महत्प्रभावः खलु कल्पवृक्षः ।।६।।

पापीयसामग्रसरा[2] नृशंसा, नितान्तहत्याऽरुणपाणियुग्माः ।
भवन्ति ते विश्वजनीनवृत्ता, महीयसां शासनमाश्रयन्तः ।।७।।

अर्जुनमालाकारः स्वागमविदितो निदर्शनं चात्र ।
तदेवाधिकृत्येदं, काव्यं निर्माम्यहं तनुधीः ।।८।।

किं विद्वन्मान्यानां, हृदयग्राही परिश्रमो भावी ।
इति न मया निर्णेयं,भवेत्स्वतन्त्रा हि शिशुलीला ।।९।।

कथारम्भः

"राजा प्रकृतिरञ्जनात्"—इति रघुवंशे ।

आसीदशेषदेशशेखरायमाणो भरतक्षेत्रान्तवर्ती मगधो नाम जनपदः । तत्र विविधाऽभ्रंलिहसौधश्रेणिभिर्वर्धमानश्रीकम्, नानावाणिज्य-विज्ञवणिग्जनवर्गैर्विस्तृतव्यापारम्, अभिभूतधनदविभवभाग्य-शालिभूरिविभूतिमद्भिर्निभृतं भृतम् सुदृढवप्रगोपुरखातिका -

---

१. सूक्तिः ।

२. अग्रमग्रेण वा सरतीत्यग्रेसरः सूत्रेऽग्रे इति एदन्तमपि निपात्यते, कथं तर्हि—'यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्' इति, बहुलकादिति हरदत्तः ।

प्रभृतिभिर्विगताराातिभयम्, [1]दविष्ठनीवृदागतैरनेकक्रयिकविक्रयिकैः सङ्कुलापणमालम्, विशुद्धाज्यमधुधूलिसमितादिनिष्पन्नैर्विविधस्वादुमिष्ठान्नैः संकीर्णकान्दविकहट्टम्, इतस्ततोबम्भ्रम्यमाणैः कतिपयपण्याजीवैः संततशब्दायमानम्, मर्त्यलोकेऽपि स्वर्गलोकसदृक्षं जैनागमप्रसिद्धं राजगृहं नाम नगरं वसुमतीमस्तकमभूषयत्। तस्मिन् हरिरिवाऽखण्डितशासनः, केसरीवाक्षुण्णशौर्यधरः, अर्यमेव दुर्धृष्यदीधितिः, शशीव सौम्यमूर्त्तिः, गीर्पतिरिव विद्योदधिपारगः, भीष्म इव सुदृढप्रतिज्ञः, रत्नसानुरिव रणनिष्कम्पचरणः, कल्पशाखीव दानशौण्डीरः, मितद्रुरिवाऽनतिक्रान्तमर्यादः, नन्दनन्दन इव राजनीतिकुशलः, कमलवन्निर्मलविचारचुम्बिहृदयः, प्रभातसमय इव प्रबोधकोविदः, वासन्तपवन इव जगदानन्दकारी, गङ्गाप्रवाह इव निर्धूतकल्मषः, अयनानोकहं[2] इव श्रान्ताश्रयणीयः, नभस्वानिव स्वतन्त्रविचारः, हिमवानिव सीमाकारकः, श्रेणिको नाम राजा प्रजा अन्वशात्। स नृपोऽभयोऽपि कृतपापभयः, सदयोऽपि दुष्टदण्डने निर्दयः, सहिष्णुरपि अन्यायमसहिष्णुः, अगर्वोऽपि धृतनीतिगर्वः, नितान्तविक्रान्तोऽपि परपीडाकातरः, प्रजापतिरपि प्रजासेवकः, सुखोचितोऽपि परिश्रमपरः, कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रोऽपि पुनाराजनीतिपरतन्त्रः सकलैर्जनैरन्वभावि।

पुनः स प्रजास्वनुशासनं न स्वौद्धत्येन विदधे, किन्तु कर्तव्यमुररीकुर्वाणः, प्रजाभ्यो दण्डराजदेयादिद्रव्यं गृह्णन्नपि न स्वकीयोपभोगसामग्रीं विवृद्धिमानिन्ये, किन्तु तत् प्रत्युपकाराय प्रजानां व्ययाञ्चक्रे। बहुधा स परिवर्तितवेषो निशीथिन्यां नगरस्य त्रिकचच्चरादिषु पाणिन्धमान्धकारव्याप्तासु संकीर्णवीथिष्वपि चाज्ञातमटाट्यमानः स्वकीयमयशः श्रोतुमुत्सेहे। कदाचिदात्मीयमस्तोकं श्लोकमाकर्ण्यापि न जहर्ष, किन्तु आत्मानं निगूहमानो केनचित् व्याजेन कामपि त्रुटिं प्रकटयन् जनैः सार्धमुल्ललाप। कस्यचिन्मुखात् कामपि दोषागाथामाकलय्यापि न तस्मै चुक्रोध, किन्तु तद्रहस्यालोचनवशंवदो बभूव।

समये-समये संसत्सु भाषमाणः स इत्थमुदीरयन्नासीत् "प्रजामनुकूलयन् खलु कुशलो महीपालश्चिराय नन्दति, नहि प्रजां प्रतिकूलयन्। प्रजानुमतं हि शासनं प्रतिदिनमेधते, नहि प्रजातिरस्कृतं केवलं

---

१. अतिदूरदेशागतैः।
२. मार्गपादप इव।

नृपाभिमतम् । प्रजा हि जीवनं राज्ञाम्, प्रजा हि मूलं राज्यस्य, प्रजाभिरेवाऽऽलाप्यो भवति सम्मानसूचकैरिन्द्रनाथादिशब्दैः । न स्मर्यते किमु प्रथमः क्ष्मापतिरादीश्वरो विनीतावास्तव्यैरेव योग्यो निर्वाचितः ? नावबुध्यते किमुत पिशितलोलुपः शिशुभक्षणपरः सौदासः प्रजाभिरेव निर्वासितः शीघ्रमयोध्यातः । किं बहुना प्रजापालनमेव राज्ञां धर्मः, नहि प्रजा शोषणं किन्तु । किञ्चिदसमवहिते हि राजन्यनेकेऽनर्थाः समुद्भवन्ति राष्ट्रेषु, भूरय उपप्लवा अनुभूयन्ते तत्रत्यैः, प्रतिपलं संशेरते जनानामन्तःकरणानि, विलीयन्ते च सर्वेऽपि प्रकृतीनां कल्पितमनोरथाः, क्षीयन्ते प्रतिपदं संपदः" सततमतः सावधानेन वसुमतीपतिना भाव्यम् ।

निगदन्ति नीतिकोविदा अपि इदमेव—"धर्मपरे राज्ञि सर्वा दिशो भवन्ति प्रजानां कामदुघाः, निःसंशयं मोदन्ते मनुजानां मानसानि, स्वातन्त्र्यमनुभवन्ति चत्वारोऽपि वर्णाः, ऋतवो नातिक्रामन्ति स्वमार्तवं धर्मम्, विलसति शस्यश्यामला राजन्वती[1] वसुधा, गृहे-गृहे राजन्ते नैचिक्यो गावः[2], संकीर्णानि स्युर्गृहमेधिनां प्राङ्गणानि पुत्र-पौत्रवृन्दैः, परेषां पतितमपि स्वापतेयं स्वीकर्तुं नोत्सहन्ते मर्त्याः, मातर इव महीयन्ते तत्राऽपरमहिलाः, साधु सम्मान्यन्ते महनीयवृत्ता मुनयः, अनुलङ्घ्यमामनन्ति गुरुजनवचनप्राकारं लघीयांसः, शुभ्रं विभ्राजते तत्र सौभ्रात्रं प्रेम, नहि भर्तृमात्रा सार्धं कलहायन्ते कुलवध्वः, सत्क्रियन्ते गृहागताऽतिथयः, नहि स्यात् तत्र चौर-पारदारिक-वञ्चक-पश्यतोहराणां च प्रायिकोऽवकाशः" इत्यादिसूक्तैः सामाजिकान् परितोषयति स्म सः ।

पुनः स भम्भासारो भगवतां चतुस्त्रिंशदतिशयैरतिशयितानाम्, पञ्चत्रिंशद्गीर्गुणैर्विशदव्याख्यानानाम्, काममिथ्यात्वाज्ञानप्रमुखैरष्टादशदोषैरप्रेक्ष्यमाणानाम्, व्यापाद्य मोहमहाराजमासादितकेवलकमलानाम, सुरासुरनरेन्द्रसमूहैः प्रणतांह्रिसरोरुहाम्, इन्द्रभूत्यादिमुमुक्षुहर्यक्षैः चन्दनबालादिसतीमतल्लिकाभिश्च सभक्ति समुपास्यमानानाम्, श्रीवर्धमानस्वामिनामन्तेवासी, अभिगतजीवाजीवादितत्वः, व्यवसितद्रव्यषट्कसुन्दररहस्यः, विरचितव्रताव्रतविवेचनः,

---

१. "राजन्वान् सुराज्ञि" इति वतुप्रत्ययः ।

२. "नैचिकी तूत्तमा गोषु" इति हैमः ।

सावद्यनिरवद्योपादानद्वयेन सुज्ञातानुकम्पाद्वैविध्यः, अनवरतं वैपरीत्यवृत्तितः प्रतिपन्नसंसृतिनिर्वृतिपथपार्थक्यः, [1]पात्रापात्रविवेचकसर्पसौरभेयीनिदर्शनेन विशदीकृतवितरणविवेकः, सुनिश्चितनिर्जरानुगतपुण्यप्रचयः, सुविलोडितनयन्यासप्रमाणकल्लोललोल-स्याद्वादवारांनिधिः, चतुर्थगुणस्थानस्थायी श्राद्धश्चासीत् । देवाधिदेवमेव स देवत्वेनाऽऽनर्च, नहि रागद्वेषादिपङ्ककलङ्कितान् निग्रहानुग्रहकारकान् भूयो-भूयो भूभारमाहर्तुं धृतावतारान् सततं सपत्नीकान् अन्ययूथिकदेवान् । षट्त्रिंशद् गुणगुणैरगम्यगौरवम्, बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिविप्रमुक्तम्, हृदयान्धतमसविनाशने मार्तण्डमण्डलायितम्, भवाम्बुधौ निमज्जतां जन्तूनां निस्तारणे पोतायितम्, परमपवित्राचारं गुरुं गुरुधिया निषेवते स्म सः । अर्हन्मुखारविन्दादाविर्भूतम्, अनेकजन्मजन्मान्तरसञ्चितकलुषकलापकर्तनकुशलम्, भवदावदंदह्यमानदेहभृद्रक्षादक्षम्, शरणमशरणानाम्, बन्धुमबन्धूनाम्, धनं दरिद्राणाम्, स्थानं बम्भ्रम्यमाणानाम्, सुखं दुःखाकुलानाम्, सहायमसहायानाम्, अभयं भयद्रुतानाम्,बलं निर्बलानाम्, अमृतं म्रियमाणानाम्, राजपथमज्ञातनिगमानाम्,[2] भैषज्यमामयाविनाम्, मित्रं शून्यहृदयानाम्, परममङ्गलम्, अहिंसामयम्, विनयमूलम्, त्यागप्राधान्यम्[3], जिनाज्ञान्तर्गतम्, संवरनिर्जरात्मकम्, ध्रुवम्, सार्वजनिकम्, दुर्गतिनिपतज्जन्तुजातधारणक्षमम्, धर्मं निश्चलधिया श्रद्दधे स सुतराम् ।

इमां परमानर्घ्यां परमात्मनीनां परब्रह्मसाधनीं रत्नत्रयीं परमभक्त्याऽऽराधयन्तं शङ्काकांङ्क्षादिदोषैरदुष्टं शमसंवेगादि-तल्लक्षणैर्वलक्षं क्षायिकसम्यक्त्वं परिपालयन्तं, धर्मानुरागरक्ताऽस्थिमज्जं तं नृपं परिपक्वप्रत्ययं नहि निर्जरोऽपि धर्माच्चालयितुं शशाक स्वप्नावस्थास्वपि ।

शचीव दुश्च्यवनस्य[4], रोहिणीव हिमद्युतेः, रतिरिव मधुसारथेः, श्रीदेवीव सार्वभौमस्य, तस्य राज्ञोऽवरोधमलञ्चक्रे चिल्लणानाम्नी महिषी । सा स्वकीयाऽलौकिकललितलावण्येन, विलसत्सौन्दर्य-

---

१. 'पात्रापात्रविभेदोऽस्ति, धेनु०' इत्यादि ।
२. अविदितमार्गाणाम् ।
३. त्यागेन प्राधान्यं-प्रधानत्वं यस्य तम् ।
४. इन्द्रस्य ।

वितततारुण्येन जहास कात्यायनीमपि[1]। सा साध्वीमचर्च्चिका पातिव्रत्यपरायणा पराबभूव परिप्लवां कण्टकाकुलपदां पद्मवासामपि। सा चतुःषष्ठीकलाकोविदा विविधकाव्यालङ्कारनदीष्णाता अनेकसूक्तिपद्यमुखरितमुखारविन्दा इतिहासपुराणनाटकादिभेदविदुषी शारदामपि च समुन्निन्ये विवदितुम्। पुनः सा चेटकनृपपुत्रीत्वात्परमार्हती जन्मतोऽप्यार्यदेवार्याणां शिष्या हृदयङ्गमीकृतनवतत्त्वसत्त्वा नितान्तमदोलायितमानसा परमश्रद्धया सुतरां सिषेवे श्रेष्ठां जैनीं दृष्टिम्। पूर्वं भर्त्रा बहूपद्रुताया अपि असत्याऽनाय[2]न्यासेन निजिघृक्षिताया[3] अपि, नानाजटिलपर्यनुयोगैः प्रत्यहमनुयोजिताया अपि, कृत्रिमजैनमुनिगर्हया जुगुप्सां नीताया अपि, नानाकपटघटनया विप्रतारिताया अपि च तस्या नहि चकम्पे खल्वेकापि रोमराजी जैनदर्शनतः। नहीषदपि समशयिष्ट[4] स्वान्तमपि चार्हन्त्यविचारधारासु, प्रत्युत सा पतिमपि पारगतपथं प्रति प्रणेतुं प्रयतितवती। मिथ्यात्वाद्यरातीन् चञ्चज्ज्ञानचन्द्रहासेन खण्डितुमुच्चण्डचण्डीरूपमादर्शितवती। नैयायिके पथि निःसंकोचमाव्रजन्ती वाचंयमचेलानामेजयाञ्चक्रे[5] चेतांस्यपि तद्विचारधाराभिः सह। अन्ते सा चारुचारित्रमूर्तिः सुसंप्राप्तसाफल्या विजिग्ये[6] निजं भर्त्तारमपि स्याद्वादवाद्यध्वन्यध्वनीनं तं पूर्णरूपेण प्रेक्षमाणा। अस्तु, दाम्पत्यप्रेम्णा औचितीमनतिक्रामन्तौ राजनीतिकुशलावपि दत्तधर्मैकलक्ष्यौ जगतां पुरत उच्चमादर्शमादर्शयन्तौ सीतारामचन्द्राविवाऽपरौ जनैरतर्किषाताम्।

तस्य राज्ञः केवलबुद्धिपरमाणभिरिव वेधसा रचितः, पिण्डीभूतो विवेकोऽथवा विनिर्मितनराकृतिः, जगद्वैचित्रीं दिदृक्षुरथवा धिषणो[7] धरातले धृतावतारः, द्विकरोऽपि सहस्रकर इव मार्गनिर्देष्टा,

---

१. "कात्यायनी त्वर्धवृद्धा" इति वचनाद् हास्यास्पदं सा।
२. अनाय-जालम्।
३. निग्रहीतुमिष्टाया अपि।
४. संशेतेस्म।
५. कुत्सिता वाचंयमा वाचंयमचेलास्तेषाम्।
६. विपराभ्यां जेरित्यात्मने पदम्।
७. बृहस्पतिः।

द्व्यक्षोऽपि सहस्राक्षइवातिदूरदर्शी, एकशीर्षोऽपि सहस्रशीर्ष[1] इव परामर्शपटुः, मुखविकारकराभिनयाभ्यामपि मनःस्थमप्यर्थमभ्यूहयितुं प्रवणः, प्रतिध्वानेनापि परमन्त्ररहस्यनिष्कर्षनिपुणः, आयवृद्धि व्ययौचितीं स्वामिरक्षणं तन्त्रपोषणं च कर्तुं नितान्तविचाराधीनः, साम-दाम-दण्ड-भेद-नीतिकुशलः, कोशं वर्धयन्नपि नहि प्रजारक्तशोषणोद्यतः, प्रियंवदतया हितमुदीरयन् नहि चाटुकारत्ववशंवदः, नहि स्वार्थान्धतया स्तोकमपि राज्ञोऽनर्थं सहिष्णुः, परमधार्मिकः पवित्राचरणः, प्रेयानगृध्नुर्नन्दातनुजोऽभयकुमारनामा धीसखो[2] निर्भयं राज्यभारं बभार ।

यस्य बुद्धिवैलक्षण्यं विलोक्य सुदृढं चातुरङ्गिकवाहिनीबलमाभेजाना अपि प्रत्यवस्थातारः[3] पृथ्वीपालाः श्रेणिकशासनाद् नितरामाशशङ्किरे । येन चतुर्विधया धिया एतादृशान्यपूर्वाणि स्वप्नेप्यसम्भावनीयानि कार्याणि निरमायिषत, यैः प्रत्यर्थिभिः कल्पिताः परःशतमनोरथा अभ्रविलायं विलीनाः । तेषां हृदये चेदृक् चाकचिक्यमाविर्भावितम् यन्नूनमयमतुच्छबुद्धिविभवः कुशाग्रीयमतिर्यावदभयकुमारोऽमात्यप्रवरः सुखं विराजतेतराम् तावन्नेदं शासनं पाकशासनस्थाम्नापि[4] सपत्नेन विजेतुं शक्यम् । भम्भासारोऽपि तादृशं मन्त्रिणं पुत्रमासाद्य सुदृढस्तम्भस्थं प्रासादमिव, निबिडप्रकाण्डं कारस्करमिव, समेथिकं खलमिवाऽऽमम्नौ नैजमाधिपत्यम् । कदाचित् काचिदपि चिन्ता नृपचेतश्चेच्चुचुम्ब, तदानीमभयकुमारस्य पुरस्तात प्रकाशनमेव तत्प्रतीकारः समजनि. भूरिण्युदाहरणानि त्वद्याप्युल्लेखशेखरतामादधतितमाम् ।

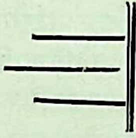
पुनस्तत्रत्याः सर्वेऽपि जानपदा धनाढ्यास्तनुसम्पदो वा हर्म्ये दीपकमिव, सरसि घनरसमिव, देहे चैतन्यमिव, हृदये कारुण्यमिव, क्षीरे हविष्यमिव, पठिते विवेकमिव, वैश्वानरे चौष्ण्यमिव, तं नान्देयं[5] चिराय ननन्दुः । तादृशे बुद्धिप्रबले मन्त्रिणि गर्वमवलम्बमाना निजं-

---

१. शेष इव ।
२. मन्त्री ।
३. प्रत्यनीकाः ।
४. इन्द्रतुल्यशक्तिभाजापि ।
५. नन्दाया अपत्यं नान्देयम् ।

निजं भागधेयं भूरि-भूरि प्रशशंसुः। सत्पुरुषसंयोगोऽथवा न केषां जाजायते नाम शान्तिकारणम् ? अस्तु, श्रेणिकेन सनाथिते अभय-कुमारेण सुरक्षिते च तस्मिन् साम्राज्ये मर्त्यलोकेऽपि स्वर्लोकसुख-मनुबभूवुः प्रजाः प्रतिपलम्।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये
नगर-नृप-महिषी-मन्त्रिवर्णनात्मकः
प्रथमः समुच्छ्वासः



द्वितीयः समुच्छ्वासः

यौवनं धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् ?

—(नीतिः)

अस्मिन् परिवर्तिनि संसारे नहि केऽपि पदार्था एकरूपतया स्थितिमश्नुवते । "गच्छतीति जगत्" इत्यन्वर्थेन ध्वनिना स्पष्टमित्यभिव्यज्यते यत्राधुनाऽक्षतसुखमवभासते तत्र कियता कालेनावश्यंभावि दुःखम, यत्र साम्प्रतं मङ्गलनिनादा हरिदन्तान्[1] मुखरीकुर्वते तत्रैव कश्चिदऽनेहा[2] श्रावयति कर्णकटुकान् कर्कशक्रुष्टशब्दान्[3], यत्रेदानीं अजीनमजर्यराजीवं[4] उद्गिरति परमप्रीतिसौरभं तत्रैव विधिर्निदर्शयति विजृम्भमाणवैरवाडवानलम् । ये च धनाढ्या धनेनाधरीकुर्वन्ति धनदमऽपीदानीं तेऽपि कतिपयक्षणानन्तरं क्षीणसम्पदो बुभुक्षाक्षाम-कुक्षयो लक्ष्यन्ते परमुखप्रेक्षिणः । ये च केचन गर्वपर्वता ऊर्ध्वीकृतोत्तमाङ्गास्तृणाय जगन्मन्यमानाः श्रुतमश्रुतीकुर्वाणाः सहेलं खेलयन्तो दृष्टाः, तेऽप्यधुना नतमूर्द्धानो विस्मृतस्मया म्लानवदना विधि-

१. दिगन्तान् ।
२. कालः ।
३. रोदनशब्दान् ।
४. अजर्य-मैत्री, तदेव राजीवं-कमलम् ।

वैचित्र्यविधुराः पराभूयन्ते पांशुलपादैरपि। अहो ! नहि सदृशः समयो वर्वर्त्ति चर्कर्त्ति च कार्यम्।

अस्तु, श्रेणिकसाम्राज्यं सर्वसुखमयं कथमुपप्लवजलपूरेण प्लावयते भीमा भाविनी रेखा ? कथमऽल्पीयानपि कृशानुकणो निदर्शयति खाण्डववनदाहताण्डवम् ? कथं सूक्ष्ममपि चैनोबीजं फलति परोलक्षाणि हलाहलफलानि ? इति श्रोतव्यं सावधानं सर्वैरपि—आसीत्तस्य राजगृहस्यैशाने दिग्विभागे विविधकदम्ब-निम्ब-जम्बीर-रसाल-तालादिशाखिभिः श्यामलच्छायं, सुचारु पल्लवित-पुष्पित-फलितकारस्करैर्मनोहारि, नितान्तनगनिकायनिषेकतत्पराभिः शीतलसलिलसारिणिभिरापूर्यमाण-क्षुपालवालम्, नाना मयूर-शुक-शारिका-कोकिलादिशकुनिकूजितैर्जेगीयमानगुणाम्, प्रस्फुरत्कमलपरिमलैर्हिमकरकरनिकरधवलमधुरसलिलनिर्भृतैः विशिष्टप्रस्तरोत्करनिबद्धतटैर्वर्तुलतटाकैरुपशोभित-चतुष्कपथम्, विनिर्जितमारैः सुकुमारैः सपत्नीक-धनि-कुमारैरटाट्यमानदूर्वातलम्, कठिनपाठरटनपटुभिः परीक्षोन्मुखैश्छात्रवर्गैर्निरुद्धाऽनेकतरुमूलम्, कतिभिश्चिद् वैद्यनिर्दिष्टकार्यक्रमैरामायाविभिः संसेव्यमानविशुद्धवातम्, पिण्डस्थपदस्थादिध्याननिमग्नमानसैरेकपुद्गलार्पितार्धोन्मिषितदृग्भिस्तपोधनैर्निर्मलीकृतनिकुञ्जम्, प्रत्यक्षनन्दनवनमिव गुणशीलनामकमुद्यानम्।

तस्यैवोद्यानस्यान्तर्गता विभिन्नवर्णविकसितपाटलप्रसून[1]पटलमिषैः प्रकटयन्तीवविश्ववैचित्रीम्,मल्लिकाजाति[2]यूथिका[3]द्यनेकमणीवक[4]व्रातैर्निदर्शयन्तीवानेकात्मकवस्तुस्थितिम्,चम्पकतरोः सुरभीणि हैमपुष्पाण्याबिभ्रती हसन्तीव जम्बूवृक्षस्य सौवर्णसुमसन्दोहम्, समीरेण समं जनमनोहारिस्फुरदामोदं ककुप्सु[5] प्रेषयन्ती दूरेणागच्छतः पथिकानाकारयन्तीव प्रतिपलम्, मधुकराणां मञ्जुगुञ्जारवव्याजैर्जनानां पुरतः ख्यापयन्तीव स्वमकरन्ददानदक्षताम्, ईषत्स्मेरैः[6] कोरकनिकुरम्बैः[7] स्पष्टयन्तीव

---

१. पाटलप्रसून—गुलाब के फूल।

२. जाई चमेली।

३. 'जूई' इति ख्याता।

४. मणीवकं-पुष्पम्।

५. दिक्षु।

६. किञ्चिद्धसितैः।

७. कलिकासमूहैः

बाल्यकालनिर्मलताम्; कामकेसरिणो गुहेव नीरन्ध्रनिकुञ्जा परमरमणीया नागरिकाणामुत्कृष्टा विहारभूमिः विलसति स्म एका पुष्पवाटिका ।

तस्यां एकस्मिन् दिग्विभागे दोधूयमानोन्नतध्वजादण्डेन स्पर्धयदिवान्तरिक्षम्, अत्यन्तचतुरकारुनिर्मिततया अवहेलयदिव विश्वकर्मणोऽपि निर्माणम्, विचित्रमणिरत्नकुट्टिमतलधारितया प्रत्यक्षयदिव निर्जरगृहाजिरम्, सुलष्टघृष्टभित्तिचाकचिक्यैः स्मारयदिवाऽऽर्षभे[1]-रादर्शभवनम्, पौरैः परमश्रद्धालुतया प्रणिधेयम्, शुशुभे च सहस्रपलप्रमितमुद्गरधरत्वेन "मुद्गरपाणिः" इत्यभिधयाऽख्यातस्य यक्षस्यायतनम् ।

तं प्रासादमलंकुर्वाणा, विशिष्टकाष्टघटिता परिहितचारुदुकूला अनर्घ्याभरणभारभूषिता स्फुरत्प्रभावितया महामहोभिः प्रतिष्ठां प्रापिता, अनकैरैहिकसुखार्थिभिरर्थनीया, विविधदविष्टप्रदेशादागतैर्यात्रिकवर्गैर्दर्शनीयमुखारविन्दा, पूर्णमनोरथैः सुकृतिभिः परिवर्धितभाण्डागारा विललास मुद्गरपाणेरप्रतिमशक्तेः प्रतिमा ।

उवास तत्रैवैक उद्यानरक्षकः, अनुऋतु[2]फलवापकोविदः, महीमुर्वरीकर्तुं गोमयकारषादि-क्षोददानदक्षः[3] यथासमयनीरसेकनिपुणः, वृक्षफलपुष्पाणामामयतत्त्ववेत्ता, वनस्पतीनां संयोगकार्यपटुः, नानाकारैर्विविधक्षुपकर्तनाभिज्ञः, विहगव्रातविहितोपद्रवनिवारणदत्तावधानः, शशक–मृग-शृगालादीनां मार्गनिरोधोद्यतः, स्वकार्यनिरतो भद्रप्रकृतिरर्जुनाभिधो मालाकारः ।

तस्यात्यन्तवल्लभा कदलीव कोमलाङ्गी, प्रसन्नवदना, चन्द्रलेखेवाऽनलङ्कृतापि स्वभावतः सौन्दर्ययुक्ता, अविज्ञातहावभावविलासविभ्रमापि बाललीलेव मनोहारिणी, असज्जापि मदनतापतप्तानां यूनां छायेवाऽभिप्रेया, बलाहकानुगा विद्युदिव पत्युर्वर्त्मानुवर्त्तिनी, सूचीव सरलप्रकृतिः, तारावलीव प्रकटाचरणा, घटिकेव सामयिककार्याऽनुल्लङ्घिनी बभौ बन्धुमतीनाम्नी भार्या ।

अर्जुनो बन्धुमत्या सार्धं प्रत्यहं पुष्पवाटिकायां पुष्पाण्यवचिनोति स्म । ततोऽनेकपूर्वजपुरुषपरम्परापूजितां मुद्गरपाणियक्षस्य प्रतिमां

---

१. भरतस्य । २. समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः ।
३. क्षोद—"खाद" इति भाषायाम् ।

सुरभितैः पुष्पैर्भक्तिपुरस्सरं बहुविधमर्चति स्म। अनेकगौरवसूचकैः शब्दैरभिवादयति स्म। पुनः परमहार्द्दिकश्रद्धया प्रणिदधाति स्म। तदनन्तरं कानिचित्प्रकीर्णानि, कतिचिच्चातुर्येण संदृब्धानि, अपराणि स्तबकितानि, अन्यानि च हारार्धहाररूपाणि प्रसूनानि नगरे गत्वा विक्रीणाति स्म। अनया रीत्या नैजं गार्हस्थ्यजीवनं निर्वाहयति स्म। सुखेन आयानुरूपं व्ययमनुतिष्ठन् सर्वाण्यपि कार्याणि स्वतन्त्रं साधयति स्म।

अथ तस्मिन्नेव पत्तने ललिताह्वया गोष्ठोलाः, कस्यचिन्महतो राजकार्यस्य सम्पादनेन राज्ञा निर्भयीकृताः, अभयत्वेनात्यन्तमनर्गलत्वमाप्ताः, आढ्यकुलप्रसूतत्वेन विगतवाणिज्यादिचिन्ताः, नक्तंदिवा स्वायत्तं बम्भ्रम्यमाणाः, कषाया इव मूर्त्ताः, कलहा इव पिण्डीभूताः, अवयवा इव कलिकालवपुषः, दूता इवाऽधर्मराज्ञः, विलासा इव निर्लज्जतायाः, दासा इव दुर्व्यसनानाम्, कल्लोला इव कालुष्योदधेः, परिणामा इव दुष्प्रवृत्तेः, अङ्कुरा इव भाव्युत्पाततरोः, कामं विजह्रिरे षड् युवानो नराः। तैर्यत्र जिगमिषितं तत्रैव गतम्, यच्चिकीर्षितं तदेव कृतम्, यल्लिप्सितं तदेव लब्धम्, यज्जिघत्सितं तदेवात्तम्, यत्पिपासितं तदेव पीतम्, यद्दिदृक्षितं तदेव दृष्टम्, यज्जिहीर्षितं तदेव च हृतम्।

अहो! यौवनोन्मादः नरमन्धयति बधिरयति चावार्द्धकेऽपि, दविष्ठयति[1] न्याय्यात्पथः, नेदिष्ठयत्यविवेकपद्धतेः[2] द्राघयति दुर्मददानवीयवृत्तिम् ह्रसयत्यात्मनीनगुणग्रामम्। हन्त! हन्त!! तत्रापि चेद्वैभवविपुलता तदा तु वीचिमालिनमपि चुलुकायते, विपुलामपि वसुधां द्विपदायते, अनन्तमपि वियत्[3]करङ्कायते,[4] अल्पीयोऽपि जीवनं पराद्ध्यर्यपरायते[5] च नरः। बत! बत! सधनयौवनवैपरीत्यम्—परामर्शपूर्वं प्रवृत्तिनि पुंसि शीतकत्वारोपः, गौरवार्हे गुरौ उपहासप्रवृत्तिः, धार्मिके सुजने मिथ्याचार-

---

१. अतिदूरं करोतीति दविष्ठयति "णिज् बहुलं करणादिषु" इति सूत्रेण साधु।

२. नेदिष्ठमन्तिकतमं करोतीति नेदिष्ठयति।

३. वियत्—आकाशम्।

४. "नालिकेरजः करङ्कः" इति हैमः "टोपसीति" भाषा।

५. पराद्ध्र्यमिति सर्वोत्कृष्टा संख्या, ततोऽप्यधिकमिवाचरतीति पराद्ध्र्यपरायते।

ताऽभिव्यक्तिः, सत्सङ्गमेऽपि व्यर्थसमयव्ययः, राद्धान्तप्रत्ययेऽन्धश्रद्धालुतोक्तिः, कौलेयकक्रमे रूढिव्यपदेशः, उचितोपदेशे कर्कशकुतर्कसंपर्कः, सुकृताय प्रेरिते खल्विद[1] मुक्त्वेति कथनम्। तत्रापि चेत्प्रभुत्वलेशावेशस्तदानीं तु-वृश्चिकदष्टवानर इव, पीतमदिरोन्मत्तमतङ्गज इव, अवकरारूढकरभ इव, पीतसिकतोदकवातकीव, तत् किमस्ति भूवलये यन्न कर्तुं स चेष्टेत ? पृथिव्यामपि पदमाधातुं नेहेत नूनमविविक्तात्मा ।

अहो ! तुच्छता हि प्रायेण भयङ्करी । बिन्दुमात्रविषविशिष्टो हि वृश्चिकः पुच्छाच्छोटैर्जगद् भीषयते । किमुनान्तर्भीरुर्भषणो भषणेनैव भापयतेऽदण्डिनः पान्थान् ? अपूर्णो हि कुम्भोऽम्भः प्रोच्छालयन् किमुत न क्लेदयति वासांसि निजानेतुः ? शून्यप्राया हि शारदाः स्तनयित्नवः किमुत न बहु स्तनन्ति ?

विध्वंसस्य प्रथमावस्था हि बुद्धिविपर्ययः, अस्तमनाय प्रस्थितो हि प्रदीपोऽथवा बहु चमच्चरीकर्त्ति ।

उत, परिपाककालो हि वस्तूनाममन्तिमः क्षणः, पतन्त्येव पत्राणि परिपक्वानि पृथिव्याम्, परिपक्वो हि व्रणश्छिद्यते विज्ञवैद्यैः, भृतो हि कुम्भो निमज्जत्येवाम्भसि । सीमातिवर्त्तनमाहोस्विद् नहि चिरं विषहते प्रकृतिः, तत्प्रतीकारः स्वयमेव जाजायते जवेन । अस्तु, ते षडपि पूरुषा बहून्निरागसो नरान् पीडयामासुः, अनेकान् निर्बलान् लुण्टयामासुः, बह्वीनां कुलबधूटीनां च धर्मं ध्वंसयामासुः । अमीषामुपरागं हृदा नागरिका जुगुप्समाना अपि नृपबहुमन्यतां मन्यमानाः सर्वं तितिक्षाञ्चक्रिरे । प्रतीकारैरप्रतिकृता रोगपरम्परेव तेषामुद्दण्डता निर्भृरमेधाञ्चक्रे । अहो ! युक्तियुक्तोक्तिर्नीतिज्ञानाम्—"अपराधानां मर्षणमप्यपराधः, अन्यायकर्तृणामुपेक्षा ह्यन्यायपीडितेष्वत्याचारः" खलु व्यक्तितन्त्रे राज्ये ईदृक्षा मन्तवो[2] भवन्त्येव प्रायशः। प्रजातन्त्रे तु नेदृशानामागसां प्रायिकोऽवकाशः । यद्यपि श्रेणिकेन महीक्षिता[3] "यत्किञ्चिदनुचितेऽपि समाचरितेऽदण्डनीया एते" इति नहि स्वात-

---

१. 'अलंखल्वोः प्रतिषेधे क्त्वा वा' इति सूत्रेण क्त्वा प्रत्ययः । अलं इति कथनेनेतिभावः ।

२. अपराधाः ।

३. पार्थिवेन ।

न्त्यमदायि, तथापि तैः स्वाऽऽहोपुरुषिकया गर्हितमनुष्ठितम्, भृशमनधिकृतं चेष्टितं च ।

अथाऽन्यदा कुशशेयकोशैः सह निद्रामुद्रितलोचनान् जनान् प्रबोधयन्निव, जगद्व्याप्तं तमो ज्योत्स्नाभिः सह तिरोभावयन्निव, मलिम्लुचानां साहसं चक्रवाकाणां शोकेन सार्धमधरयन्निव, गृहमणीनामर्गलिं निशारत्नेन साकमकिञ्चित्करपदवीं प्रापयन्निव, सदपि तारकचक्रवालं दिवान्धवृन्दैः सत्राऽदृश्ययन्निव, यामिकान् कुमुदवनेनामा स्वापयन्निव, निर्भयं जीवलोकं विदधत्प्राच्यामुदियाय दिवाकरः ।

अहो चामीकरवर्णान् चरिष्णून् मरीचिमालिनः सञ्चरतः किरणान् विलोक्य चोकूयमाना विहङ्गमाः प्रडीनोड्डीनसण्डीनानि सोत्सवं कर्तुं लग्नाः । निजनिजाध्वानि प्रतस्थिरे पथिकाः । ध्यायन्ति केचिद् निजनिजेष्टदेवम्, कुर्वन्ति जैनर्षयः प्रतिलेखनादिकृत्यमावश्यकं समाप्य । स्वीकुर्वन्ति श्रावकाः शुद्धं सामायिकं सुसमाहिताः । परावर्तयन्ति नमस्कारमहामन्त्रमालां कतिचन मौनावलम्बिनो जनाः । क्रीडन्ति मातुः परितो दुग्धं याचमानाः मुग्धाः शिशवः । रुदन्ति कतिचन स्तनन्धया जनन्याश्चीवरप्रान्तमादाय नामग्राहं किमपि वस्तु मार्गयन्तः । व्रजन्ति बाला विद्यालये पुस्तकानि कक्षीकृत्य सत्वरपादपातम्[1] । अन्तर्दधते केचिल्लीलालीनमानसाः पाठशालागमनात् । जागरयति जननी कञ्चन दुग्धमुखं मन्दं बालकं "उत्तिष्ठ-उत्तिष्ठ, जागृहि-जागृहि, पश्य-पश्य भानुमांस्तव शिरसि समागतः" इत्यादिसुधासोदरया वचनपरम्परया । परिमृजन्त्यापणिकाश्च स्वीयान् स्वीयानापणान् ।

अहह ! एकोऽयमा कियन्ति कार्याणि साधयति ? कियतो जनान् मार्गं निर्देशयति ? कियन्ति क्षेत्रोद्यानानि च तापेन परिवर्धयति ? कियतः पङ्किलान् पथः शुष्कीकुरुते ? चित्रणीया रवेः परोपकारपरायणता, अतएव "जगच्चक्षुः, जगद्बान्धवः" इत्यादिभिर्गौरवान्वितैरभिधेयैरभिधीयतेऽयम् ।

अर्जुनोऽप्यर्जुनवर्णमुदीयमानमरुणं निध्यायेति[2] दध्यौ—"आः स्मृतम्, अद्यास्ति कश्चिदुत्सवमयो दिवसो नागराणाम् । हन्ताय

१. क्रियाविशेषणमिदम् ।
२. दृष्ट्वा ।

तरणिः कांस्कान् महोत्सवमयान् सद्यस्कान्[1] दिवसान् जगतां पुरस्तादुपढौकयते। कीदृशाः कीदृशाः सुन्दरा अवसरा जनानामग्रतो निस्सरन्ति सवितुः साहाय्येन। परन्तु स्तोका एव जनाः समयं सफलयितुमलंभविष्णवः। नूनं समयमूल्यं विदन्ति विद्वाँस एव, मूर्खास्तु समयं पूरयितुं प्रारभन्ते काञ्चन निष्प्रयोजनां क्रीडाम्। खलु मयाप्यद्य त्वरणीयं, गमनीयं क्षिप्रमेव पुष्पाण्यवचेतुं पुष्पवाटिकायाम् भविष्यत्यन्यथा पृष्ठतोऽनेहा[2], पश्चात्तद्ग्रहणाय नहि किमपि कौशलं वरीवृत्यते।" इति संचिन्त्य सत्वरमेव शौचस्नानादिक्रियां निर्वर्त्य सधर्मिण्या बन्धुमत्या सह उद्यानाभिमुखं प्रतस्थे।

अद्य मम सुमनसां बहु विक्रयो भावीति कल्पयन् तत्कालमेवाऽऽजगाम पुष्पारामे। किसलयकोमलाभ्यां कराभ्यां स्वशिरःस्निग्धश्यामलकुन्तलान् स्पर्धयतो मकरन्दमास्वादयतो मिलिन्दान् दूरयन्ती बन्धूमती चातुर्येण कमलनालान्याकुञ्च्य[3] वंशकरण्डके पुष्पाण्यवचेतुं लग्ना। "स्वजन्मभूमि त्यागेऽपि इभ्यानामुत्तमाङ्गेषु लीलावतीनां लसत्कण्ठपीठेषु च वत्स्यामो वयमित्यर्धोन्मिषितव्याजेन हसन्त्य इव कलिकास्ताःशिरीषसुकुमारकरस्पर्शेनावचितास्तया पुष्पावचायिन्या। मालिकोऽपि तदवचितानि प्रसूनानि तदैकवर्णतया व्यनक्ति स्म। प्रलम्बितगुणया सीविन्या विभिन्नवर्णानि पुष्पाण्यादाय माल्यरूपेण दाक्षिण्यतो गुम्फति स्म मङ्क्षु। पुनः केषाञ्चित् केवलवर्णमनोहराणामसुगन्धितानां सुमनसां स्रजः पृथगेव जग्रन्थ, केषाञ्चन गेन्दुकाकारेण गुच्छकं विरचयाञ्चकार, पुनःकस्मिंश्चिद् विशालामत्रे वस्त्रं विस्तार्य सूक्ष्मसूत्रेण पुष्पाणां वृत्तानि संसूत्र्य दक्षिणावर्त्तादिविचित्रचित्रकरचित्रेण झगिति विन्यासयामास, कानिचित्तु प्रकीर्णान्येव मणीवकानि[4] दक्षतया ररक्ष सः। इत्थं कार्यं समाप्य यक्षमर्चितुं यावच्चैत्याभिमुखः सपत्नीकःप्रत्यावर्त्तितुं लग्नोऽर्जुनस्तावत्ते षडपि पुरुषाः सूर्थवृषभा इव स्वच्छन्दमटाट्यां कुर्वाणाः पिशाचा इवाट्टहासं हसन्तः, पिशाचकिन इव गर्हितं चेष्टमानाः, वातकिन इवानर्गलं प्रलपन्तः क्षणाद् धावमानाः, क्षणात्परस्परं गले भुजा-

---

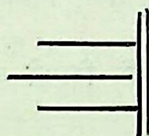
१. नवीनान्।

२. ऋदुसनसिति सूत्रेण सेर्डा, ततोऽनेहा-समयः।

३. मोटयित्वा। ४. पुष्पाणि

युग्ममादधानाः, आवर्त्तेनाकृष्टाः पोता इव कालेनाकृष्टास्तत्रोद्याने यक्षमन्दिरपरिसरं समाजग्मुः ।

॥इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये
उद्यानार्जुन-तत्पत्नी-षट्पुरुष-सूर्योदयादि-
वर्णनात्मको द्वितीयः समुच्छ्वासः॥



तृतीयः समुच्छ्वासः

"जनः किं नाऽनर्थं जनयति मदान्धो द्विप इव ।"

—(सूक्तिमुक्तावलिः)

इतः प्रस्फुटत्सौरभसुमनोभिराशाप्रदेशान् सुरभयन्तम्, आमोदमुदितैः शिलीमुखैर्मञ्जुगुञ्जारवव्याजेनोभयतः स्तूयमानम्, मस्तकधृतकुसुमभृतभाजनया भार्ययाऽनुगम्यमानम् विचारमग्नया दृशा इतस्ततोऽनालोकमानम्, पिण्डीभूतं सारल्यमिवाऽऽगच्छन्तमर्जुनं निभाल्य षडपि ते मिथ इत्थं प्रलपितुमारेभिरे—

प्रथमः—कोऽयं कोऽयमागच्छति जडात्मा सम्मुखीनेन पथा ?

द्वितीयः—न वेत्सि किमु ? 'धर्मपुत्रानुजोऽर्जुनोऽयमनङ्गधनुर्धर'[1][2] ।

तृतीयः—अहा ! केयमस्यानुगामिनी विभ्रममन्दया गत्या पदं विन्यस्यन्ती कामिनी ?

चतुर्थः—अरे ! न जानासि किमु ? अस्य कृष्णावतारस्य कमनीया कान्ता ।

पञ्चमः—हन्त ! मन्दमेधसा वेधसा कथमर्पिता किल काकाय कलहंसी ?

षष्ठः—न पीता चेदस्याः सुधामधरयन्त्यधरमाधुरी तर्हि मुधैव गमितं तारुण्यम् ।

---

१. व्यङ्ग्योक्तिरियं नामसाधर्म्यात् ।

२ "अनङ्गधनुर्धर" इति पुष्पं कामस्य धनुस्तद्धारकः ।

अन्तराल एव परः—अलं विलम्बेन, तर्हि करणीयं त्वरयैव मनीषितं कर्म ।

अपरः कश्चित्—अस्त्यनया सार्धमस्याः पतिः ; कथं क्रियते बलात्कारः ?

विहस्येतरः—भृशं भीरुकोऽसि त्वं तु, शतशो भ्रमन्ति वराका एतादृशाः ।

मुखं विकृत्यापरः—बुद्ध्या कार्यमानयेम् यथा सर्पोऽपि म्रियते न त्रुट्यति यष्टिरपि ।

शनैःशनैरपरः—ब्रुहि, तर्हि कथंकारं सफला भवामः ?

सोत्प्रासमन्यः—अलं बहुशिरोधूर्णनेन प्रतिपादयामि युक्तिमेकाम् ।

सहाट्टहासं सर्वेऽपि—निवेदय निवेदय, त्वमेव बुद्ध्याऽभयकुमारोऽसि ।

शृण्वन्तु तर्हि—पूर्वमेव वयं यक्षालयमध्यास्महे,कपाटयोः पृष्टतोऽन्तर्दध्महे, श्वासकासादिवेगमप्यनाविर्भावयन्तस्तं च प्रतीक्षामहे,यदाऽसावर्जुनः प्रतिमायाः पुरस्तात् सहर्षं भूमिचुम्बि-प्रणामं विदध्यात्, शकुन्ते श्येना इव तत्कालमतर्किताास्तस्योपरि निपतामः पुनः सुदृढं तस्य करौ चरणौ च गृहीत्वा पृष्टतो बध्नामः, तं च तदवस्थं तत्रैव मुक्त्वा वाञ्छितं साधयामो निःसङ्कोचतया, किं करणीयमेकाकिनाऽनेन ?

करतलं स्फोटयन्तः सर्वेऽपि—धन्योऽसि शतकृत्वो मित्र ? कीदृशी सरला सरणिस्त्वया निर्दशिता कुशाग्रधिया तु शेषमपि ह्रेपयसि[1] । अहह ! पारितोषिकयोग्योऽसि, सहस्ताक्षेपमन्योन्यमट्टहासं कर्तुं लग्नाः ।

अन्यतमः—आगतोऽयं बलीवर्दः समीपमेव, न खलु श्रेयान् लम्बो विलम्बः इतरथाऽयं सौवर्णिकोऽवसरः करादपसरिष्यति । इत्याकर्ण्य सर्वेऽपि व्रजन्तु-व्रजन्तु वेगेनेति जञ्जप्यमानाः[2] कस्मिंश्चित् स्थले निधिशङ्कया कृपणा इव एकैकस्मादग्रतो धावन्तोऽभीका[3] यक्षभवनमाभेजुः, अररियुग्म[4]मग्रतःकृत्वा स्वसत्तामदर्शयन्तो मूषिकं निगृहीतुमनसो मार्जारा इव नीरवतया च तस्थिवांसः ।

---

१. लज्जयसे । २. गर्हितं निगदन्तः ।
३. कामुकाः । ४. कपाटयुगलम् ।

धिक्! कामुकानां साहसिकीं प्रवृत्तिम्। गर्हणीया तेषां निर्ह्रीकता निस्त्रिंशमपि न्यक्करोति तेषां नृशंसता। कज्जलमप्युज्ज्वलयति तेषां कालुष्यमयी मानसी प्रवृत्तिः। दाववह्नेरपि शैत्यमुद्भावयति जाज्वल्यमाना कमनज्वरज्वाला। तालपुटमपि विघटयतिस्मर्यमाणैव वर्धिष्णु-र्विषमा विषमायुधविषलहरी। तामस क्षुरप्र-वह्न्यादिबाणानप्यवगणयति कंदर्पस्य कोमला अपि पञ्च बाणाः। स्खलन्ति ह्यत्रागच्छन्तो दिग्विजयिनो विदुषां वरेण्या अपि। पतन्त्यत्रागच्छन्तः पुरन्दरपूजनीया अपि परमर्षयः। सीदन्ति सीमन्तिनीनां पुरतःजगज्जिष्णवोऽपि जनाः। हा! किमिदममृतायमानं विषं स्रष्टं विधिना? यस्मिन् बद्धा अपि सुखमामनन्ति कोऽयं विचित्रः पाशः? यस्मिन् मग्ना अपि चाभग्नाशयाः कोऽयं नव्यो निषद्वरः[1]? आर्द्रकुमारोऽपि ह्यत्रागच्छन् निद्रितो बभूव। पपात नन्दीषेणोऽप्यस्मिन्नुदपाने[2]। आगत आषाढोऽप्यस्या राक्षस्या दाढायाम्। अन्यमतावलम्बिनां देवा हरिहरादयोऽपि क्षीणा हरिणाक्षीणां पुरतः। बिडौजा अपि विडम्बितोऽनेन सुमेषुणा। अहो! कियद् वर्णयामि? के केऽनर्था न जज्ञिरे कामिनीनां कृते? कांस्कान् महाहवान्नाऽजूहव[3]न्नितम्बिनीनां लिप्सा? के के विक्रान्ता युयुत्सवो नहि पञ्चत्वमाप्ता लीलवतीनां लाम्पट्यमुद्वहवन्तः? के के यशस्विनो नहि तिरस्कारपात्राण्यभूवन् वशापारवश्यमासादयन्तः? किं बहुना? त्रिलोकीमपीयं कोकिलकण्ठी सशोकीचकार। उत, यया संवर्त्तवात्यया पर्वता अपि चकम्पिरे तत्राऽतरुणपत्राणां पतने का नाम शङ्का? यस्मिन् दावानले महारण्यमपि भस्मसाज्जातं तत्र तूलव्रातानां[4] का नाम यतना? येन मधुसारथिना[5] महान्तोऽपि कदर्थितास्तत्राऽमीषां षण्णां-कामकीटानां का नाम गणना?

धन्यास्त एव द्वित्रा महामनसो जम्बूस्थूलभद्राद्या यैस्त्रिभुवनं विजिगीषतो[6] महौजसो मकरध्वजसम्राजो ध्वजिनी जवेन विनिर्जिता ब्रह्मचर्यासिना पशुमारं मारिता च।

इतो मुद्गरपाणेः प्रासादमागत्य यावदर्जुनःपुष्पाण्युपढौकमानः प्रणनाम प्रतिमां निराकुलतया, तावदमी षडपि दुर्ललिता ललिता[7] निगृ-

१. कर्दमः। २. कूपे।
३. आह्वानं दत्तवान् ४. तूलम्, रूई, इति भाषा।
५. मन्मथेन। ६. जेतुमिच्छतः।
७. इत्येषां संज्ञा

ह्यतां-निगृह्यतामयं दुरात्मेति तारस्वरेण कथयन्तः विद्युत्प्रपातं पतिताः। झगित्येव केनचित्तस्य दृढं दक्षिणः करो जगृहे, केनचित्पापीयसा वामपाणिर्मोटयताऽऽददे, अन्योऽपसव्यं पादमाचकर्ष, अपरश्च सव्यम्, द्वाभ्यामपराभ्यां च निगडसहोदरया रज्ज्वा पृष्ठतो मत्स्यबन्धं बद्धोऽसौ मालिकः। अर्जुनेन तु वित्तमपि[1] नहि किं वृत्तमिदम्: स्तब्ध इव संजातः क्षणमेकम्। वक्तुमपि न पारितं तेन किमपि। इत्थं तं सन्दानितं[2] तत्रैव मुक्त्वा सहसैव कामान्धा अन्तर्मन्दिरं प्रविशन्तीं बन्धुमतीं निस्त्रपतया जल्पयितुमारभन्त—"अहह! आयाहि-आयाहि लावण्यलीलालहरि! प्राणप्रिये! पूरय-पूरय मनोरथानस्माकम्। भागिरथि! पवित्रय कन्दर्पपङ्कपङ्किलानस्मादृशान् पापान्। यौवनघनपटलि! सिञ्चय द्रुतमस्मान् मारनिदाघमारितान् पान्थान्। सुभ्रू[3]! किं वृथैव भ्रामयसि कामकातरानमून्। मोहनवल्लि! कथं न परिष्वजसि हरितभरितान् वृक्षान्? वसुधावतरिते सुधे! कथं न जीवयसि इमान् चैतन्यशून्यान् जन्तून्?

इत्थमनर्गलानि विषयविषाक्तानि वाक्यानि मुखादुदीरयन्तो मृत्युना सह तां परिरब्धुं बद्धोद्यगा बभूबुः।

श्येनैराक्रान्ता चिल्लीव, हर्यक्षैर्निरीक्षिता च हरिणीवाभूद् वेपमाना बन्धुमती किंकर्तव्यविमूढा। शुष्कतालुजिह्वौष्ठाया इतस्ततः किमपि शरणमविलोकमानाया अक्षिपुरः परिस्फुरद्-विविधवर्णान्धतमसाया [4]वैवर्ण्यमाविरभूत्तस्या वदनारविन्दे। "अयिप्राणेश! त्रायस्व-त्रायस्व मामबलाम्। धावस्व-धावस्व वेगेन पतिदेव! अमीभिर्धर्मध्वंसिभिरहमाक्रम्ये" भग्नस्वरेणेत्थमाम्रेडयन्तीं तां ते षडपि दुराचारा धरणौ निपात्य बलात्कर्त्तुं लग्नाः।

यक्षप्रतिमाग्रतः पतितेन पृष्ठतो नद्धेन मालाकारेण प्रस्तरमपि द्रवीकुर्वद्दैन्यपरिपूर्णं [5]परिदेवनमश्रावि प्राणेशायाः, व्यलोकि च कृत्स्नापि दुरात्मभिः क्रियमाणा कान्तायाः कदर्थना। तत्कालमेव तस्य कम्पमानाधरस्य चटिता ललाटपट्टे त्रिवली, संजातोषाकालिकप्राचीरागमनुहरन्ती कोपकोषायिता चाम्बकयुगली[6]। घातयामि, पातयामि, मारयामि हन्मि, व्यापादयामि, अमून् दुष्टान्, पापान्, दुराचारान्, नीचान् क्षणेनैव। इत्थं मानसमावेगमाभेजानो जाज्वल्यमानक्रुत्-

---

१. ज्ञातमपि २. निगडितम् ३. भ्रूःश्रीवत् ततःसबुद्धौ दीर्घः
४. कालिमा ५. रोदनम् ६. नेत्रयुगलम्

कृशानुना प्रवृद्धपराक्रमः पुष्पलावो[1] बन्धनानि त्रोटयितुं भृशं प्रायतिष्ट, समस्तशरीरशौर्येण च कर-चरणादीनूर्ध्वाऽधः सञ्चालयितुमत्यर्थमचेष्टिष्ट, किन्तु निकाचितानि कर्मबन्धनान्यभुक्त्वैव जन्तुरिव तानि नहि द्विधाकर्त्तुं शशाक। हन्त ! स्वकान्तातिरस्कारो नहि सोढुं शक्यते तिरश्चापि, किं नाम पाणिपादवता विवेकिना नरेण ?

पञ्जरावरुद्ध-पञ्चाननस्येव आलाननियन्त्रितस्तम्बेरमस्येव नद्धार्जुनस्य सर्वेऽपि शारीरिकाः प्रयत्ना मोघमार्गमङ्गीचक्रुः[2]। धग्धगितिकुर्वद्वपुस्तातप्यमान-स्तत्रैव पतित इत्थं विकल्पयितुं लग्नः—"हा ! हन्त ! ! किं जातमद्य ? कोऽयं दरिद्रो द्वादशात्मा[3] दत्तदर्शनः ? कोऽयं दुर्दशादर्शको दिवसः ? केयं प्रलयपरिप्लुता वेला ? केयं विघटनां घटयन्ती घटिका ? कोऽप्यऽपरोऽत्र नाऽपि[4] नास्ति यस्याग्रतः पूत्कुर्वे। बत ! बत ! मया वृथैव पर्युपासिता मुद्गरपाणेः प्रतिमा। हन्त ! हन्त ! मया फल्गु हि कृतं पुष्पोपढौकनम्। अरेरे ! वन्ध्यैव कृता चन्दनादिद्रव्यैरर्चना। अहह ! मुधैव विहितं मस्तकघर्षणमग्रतोऽस्याः। अद्य मम सर्वमपि भस्मनिहुतम्, प्रवाहेमूत्रितम् अरण्येरुदितं चाऽभूत्। शक्तिशून्ये प्रतिमे ! किं विलोकसे नेत्रे-विस्फार्य भक्तकदर्थनाम् ? जडात्मिके ! न त्रपसे किमुत स्वमस्तित्वमाविर्भावयन्ती ? शून्यचैतन्ये ! भक्तस्य दुर्दशां कोऽपि शक्तिमान् नेक्षितुमलम्, त्वं न कथं म्रियसे द्विचलुकमिते जले निमज्जन्ती पुरतो भवन्तीं दुर्घटनामविघटयन्ती ? वृथैव त्वां स्तुवन्ति विस्तरितैः स्तवनविन्यासैर्जनाः। अहो ! अन्धानां पृष्टतोऽन्धा जङ्गम्यन्ते। धिङ् मम पूर्वजपुरुषाणामविवेकातिरेकताम, ये ईदृशीं गर्हणीयामर्हणामयीं कुलपरम्परां सञ्चालयामासुः। दारुमयि ! कथं मन्दिरमध्यमध्यासीना मूढान् धर्माच्च्यावयसे ? किमुत ज्वलज्जलनज्वालायां पतित्वा पाकाय भस्मसान्न भवसि ? पतितसत्वे ! शक्तिविरक्तया तवानया स्थायिकयाऽलमलम्। निष्क्रिये ! किमन्तर्गण्डु[5] गौरवमावहसि चेदवसरेऽपि न कार्यं सिषाधयिषसि ? किं तेन जवनेनाश्वेन यो न दशशीर्षावसानमहोत्सवेऽपि धावति ? भवतु तया पीनोध्न्या धेन्वा या न जातुचिदपि क्षरति क्षीरम्। कृतं तेन धन्वन्तरिणा भिषग्वरेण यो गदप्रतीकारसमयेऽपि प्रमाद्यति। मुद्गरधारिणि ! अस्तु तवान्तः

---

१. मालिकः २. वैफल्यमापुः ३. सूर्यः
४. नरोऽपि ५. निरर्थकम्।

शून्यया मुद्गरविभीषिकया। ज्ञातं तवाद्य देवसायुज्यम्[१]। गतं तवाद्य प्रभाववैभवम्। च्युतं तवाद्य चमत्कारचातुर्यम्। विदितं तवाद्य वास्तविकं रूपम्। पतितस्तवाद्य प्रत्ययः समेषां हृदयस्थलात्। अत ऊर्ध्वं न केऽपि त्वां पूज्यदृशा प्रेक्षिष्यन्ते, नोपढौकिष्यन्ते च किमपि वरमुपहरणीयं वस्तु तवाग्रतः। प्रत्युत, शून्यं तव धामोपस्थास्यन्ते शीतलायानानि[२] यामिन्याम्। भैरववाहनानां[३] प्रस्रवणेन संवर्त्स्यति तव सुतरां स्नानम्। स्तोष्यन्ते त्वां कपोतसंघाता दिवानिशम्। भविष्यति तव चार्चिक्यं[४] शकुन्तपोतानां विष्टाभिः। शब्दायिष्यते ते घण्टिका घूकानां निःशूकैर्नादैः। सम्पत्स्यते चाऽत्र प्रकाशो निशायां सञ्चरतां फणिनां मणिभिः।" इत्थं विकल्पानां चक्रं भ्रामयतः सहायतापराङ्मुखत्वेन यक्षं प्रति भृशमुपालभमानस्य कोपावेश-परवशत्वेनाऽसकृच्छपमानस्य तस्य वपुषि कम्पमानासनो विदित-समस्तदुःखदवृत्तान्तो भक्तसेवाहेवाकाकृष्टान्तःकरणश्चञ्चच्चमत्कार-दर्शनदक्षो यक्षो झिगिति प्राविक्षत् शक्तिरूपेण। तत्कालमेव तस्य विग्रहे निग्रहक्षमा हस्तिनां स्थामापि[५] परास्तयन्ती, शिलोच्चयमपि चूर्णयितुं प्रभूष्णुः शक्तिः प्रादुर्बभूव। अचिन्त्यो हि सुपर्वणां प्रभावः। कमलनालानीव अपरिपक्वसूत्राणीव स तानि बन्धनानि क्षिप्रमना-यासं त्रोटयामास। तदैव सहस्रपलभारभारिणं मुद्गरं दक्षिणाशेशि-तेव दण्डं समुत्पाट्य क्रोधाध्यातलोचनो वदनादित्थमाम्रेडयन् दधावे—"भोः! भोः! पापीयसां पुरोगाः! दुराचारिणो दुष्टाः! स्थीयताम् स्थीयताम् संनिधत्तेऽधुनैव कामुकहतकान् कृतान्तः। निर्लज्जाः! बल-त्कारमाचरतां शुनोऽप्यतिरिच्यते युष्माकं दुश्चरित्रम्। कामान्धाः! सर्वत्रैवान्ध्यमुद्भावितम्। जात-जाता खलु प्रतिक्रिया युष्माकं दुःसाध्योपतापस्य। गत-गतं युष्माकं सापराधं जीवनम्। पतित-पतिता बत पतनोन्मुखाः प्राणाः प्रयाणप्रियाणाम्।"

तैर्विषयविह्वलैर्यावद् विलोकितमेव नहि तावदपतद् दुर्धृष्याकृति-रर्जुनो मुद्गरमुद्यम्य[६] षण्णामुपरि। पूर्वमेवोच्चण्डक्रोधचण्डिम्ना द्विगुणितौजाः पुनर्यक्षावेशविशेषित इयद् दृढं मुद्गरेण प्राहार्षीत्, मृन्मयभाण्डानीव तेषां षण्णामपि च मस्तकानि सशब्दमभाङ्क्षीत्। गाढं वैषयिकरक्तिमानं व्यञ्जयन्तीव तदीयमुखेभ्यो निःसृता कदुष्ण-

---

१. देवत्वम्। २. गर्दभाः। ३. श्वानानाम्।
४. चन्दनादिना पुण्ड्रादिक्षेपणम्। ५. बलमपि ६. उत्थाप्य।

रक्तधारा। बहु दुर्विलोकितमावाभ्यामितीव पश्चात्तापपरायणौ बहिरापतितौ नयनगोलकौ तेषाम्। किमावाभ्यामुर्ध्वीभूय करणीयमितीव ह्रीते[1] निम्नतां गते तेषां नक्रे[2]। परं चिचर्वयिषूणां[3] नियतमेव पतनमितीव स्वनिदर्शनेन प्रकटयन्तो दन्ता भुवस्तले पेतुः। आगच्छन्तु भोक्तुकामाः सर्वेऽपि शृगाल-कुक्कर-गृध्राद्या मनोहृत्य च भवन्तु कुक्षिम्भरय इतीव निवेदयन्ति[3] तेषां कलेवराणि लम्बायमानानि निश्चेष्टं काष्टानीव पतितानि तत्र। एवं नामशेषान्[4] तानऽशेषान् विधायापि नहि शशाम रोषकृशानोः सर्वतोमुखी ज्वाला मालाकारस्य। विकृतवेषां बन्धुमतीं निरीक्ष्याऽथ कोपकर्कशया गिरा निर्भर्त्सयन्निदमब्रवीत्—"दुष्टे! कथमद्यापि जीवसि? ध्वंसपातिव्रत्यापि मुखं दर्शयन्ती न कथं त्रपसे? यद्यपि विभाति जीवनं वल्लभं धर्मस्तु ततोऽपि वल्लभतमः। ध्रुवधर्माय क्षणिकं जीवनं तृणायन्ते तत्वज्ञाः। पापीयसि! त्वं जीवनव्यामोहेन धर्ममत्याक्षीः। पतितसत्त्वे! यदा ते षडपि नीचास्त्वां प्रसह्य स्प्रष्टुं प्रायतिषत तदा न कथमकृथास्त्वं रचनात्मकं कार्यम्? जिह्वामाकृष्य न कथममृथास्तत्कालमेव? किन्तु तात्पर्यपरिवर्जितैः "प्राणेश्वर! त्रायस्व-त्रायस्वेति" प्रलापैः किं सतीमतल्लिकात्वमदीदृशस्तदानीम्। नाकर्णि किमु त्वया बहुशः कर्णाभ्याम्? --यद् वसुमत्या माता धैर्यधूर्धारिणी धारिणी रथिकेन बलात्कृता क्षणादेव रसनामाकृष्य प्राणानुत्ससर्ज। साध्वीनां धर्मं ध्वंसयितुं कोऽपि क्षमो नास्ति क्षमायाम्। प्रौढपराक्रमोऽपि पौलस्त्यो नहि प्रबभूव सीतां स्प्रष्टुमपि। त्वादृक्षाः पुंश्चलयस्तु[5] चलिता एव विलोक्यन्ते कामयितृभिः पुंभिः। धृष्टे! श्वसनविश्वासेन[6] जीवन्त्युपविष्टापि शीलविलयेन व्यापन्ना किं ममान्तःकरणं दुःखाकरोषि? निनीषामि त्वामपि तैर्जिगमिषितां[7] पद्धतिम्" इत्थमाक्रोशयन् समुत्सारितहिताहितविवेकः पाशविकबलमनुशीलयन् हिमानीकम्पं कम्पमानां कान्दिशीकां मृत्युदण्डायोग्यां कर्तव्यकातरां कामिनीं तेनैव मुद्गरेण शिरसि गाढमताडयत्। मामेति जल्पन्ती वराकी दीर्घनिद्रया मुद्रितलोचना वृक्षाद् वृक्णा[8] शाखेव भूभागमशिश्रियत्।

हा! हा!! कीदृशी कोपान्धलानां तामसी वृत्तिः? प्रतिघप्रवाहेण

---

१. लज्जिते। २. नासिके। ३. शतृप्रत्ययस्य रूपम्।
४. मृतान्। ५. कुलटा। ६. श्वासप्रत्ययेन।
७. गन्तुमिष्टाम्। ८. छिन्ना।

परिप्लाव्यमानानां भूस्पृशां कीदृग् दयनीया दशा ? हन्त ! कीदृग् दुष्कृत्यमाचरितमनालोच्यैव दुष्टेन ?

प्राणेशां बन्धूमतीं विशस्याऽ[1]थार्जुनः परामृशति स्म रक्तपातसंजातातीवाततायिन्या भावनया—नूनमत्रत्या नागरिकाः प्रायेण दुर्वृत्ता वर्त्तते। सच्चरित्रबलममीषु मनागपि नहि विजृम्भते। अत्र महीपालोऽपि नहि नीतिपरायणतया प्रजामनुशास्ति। नगरे किं घटनाचक्रं बम्भ्रमीतीति नावधत्ते। अस्य शासने विषादः साधूनाम्, सङ्कोचः सच्चरित्राणाम्, प्रोत्साहः कापथप्रस्थितानाम्, पुरस्कारो लालाटिकानाम् पर्युपास्तिः पाषण्डानाम्, अर्चा दम्भदर्व्वीकरदृष्टानाम्, वैधुर्यं धैर्यधुरन्धराणाम्, कदर्थना सत्यवाग्मिनाम्, उपहासश्चार्यवर्याणाम्। अस्तु, अद्यप्रभृति निरन्तरमहं षट्पुरुषान् नारीमेकां चानेन मुद्गरेण हनिष्यामीति प्रतिजानामि; यथा पौरपरिवृतो महीपोऽपि प्राप्स्यति स्वकीय-दुःशासित-स्वाधीनसाम्राज्यसुखम्, ज्ञास्यति च सुतरां स्वौद्धत्यपरिणामम्।

अत ऊर्ध्वं प्रत्यहं यक्षाधिष्ठिततनुरर्जुनो मुद्गरमुद्यम्य कोपकम्प्राधरः पर्यटन् निरपराधान् स्त्रीसप्तमान् षड् मानवान् पितृपतिमुखं[2] प्रवेशयति स्म। यावन्न तस्य प्रतिज्ञातं पूर्तिमियर्त्ति स्म तावन्नहि स विश्रान्तिमाश्रयते स्म। अहो ! षण्णामधमानामपराधेन कियन्तस्तत्रत्या निरपराधा आलेख्यशेषतामाश्रयितुं लग्नाः। उत,एकस्मिन्नपि गृहे निक्षिप्तोऽग्निकणः पारिपार्श्विकानां[3] किमु न शतशो भुवनानि भस्मसात्कुर्यात् ? एकस्यैव दुर्योधनस्य दुर्णयेन न किमु कृतान्तेन कवलीकृतं कौरवकुलम् ? एकस्यैव दशकन्धरस्य दुराग्रहेण लङ्कावास्तव्यैः किं किं कृच्छ्रं नान्वभावि ? कतिपयानामेव यादवकुमाराणां मदिरोन्मादितया नाऽजनि किमुत दाहो देवलोकभूताया द्वारकायाः ? अत एव "देशत्यागाच्चदुर्जनः" इत्युक्तिर्याथातथ्यमेव व्यनक्ति।

अजनि कोलाहलो जनतायाम्। कोऽयमाकस्मिक उत्पातः समुत्पन्नो दुर्भाग्येण ? केयमतर्किता महामारी जनसंहाराय समुद्यता ? केयं जन्मजन्मान्तरोप्ता अनेकदुर्व्यसनपयःसिक्ता पौराणां पापवल्ली पल्लविता ? अहरह केषाञ्चिद् भ्राता, केषाञ्चिदेकाक्येव नन्दनः, केषा-

---

१. मारयित्वा।
२. कालमुखम्।
३. प्रातिवेश्मिकानाम्

ञ्चिज्जामाता, केषाञ्चित्पौत्रः, केषाञ्चिन्माता, केषाञ्चिद् भगिनी, केषाञ्चिदभागिनेयी, व्यापाद्यते चाऽर्जुनेन। सम्पूर्णमपि पत्तनं हाहारवेण व्यानशे। प्रतिसदनमश्रूयत दैन्यमुदीरयन्नाक्रन्दनध्वनिः। प्रतिमार्गमक्रियत चैषैव दुःखदवार्त्ता पौरैरितरेतरम्। प्राप पूत्कृतिर्नृपान्तिकमपि। दत्तावधानेन श्रेणिकेनापि बहुप्रायाति[1] तदुपद्रवद्रुमोन्मूलनाय समूलं, किन्तु लक्ष्यमभिन्दाना धनुष्मत इषव इव नृपस्य सर्वेऽपि प्रयत्ना वैफल्यमापुः। अमात्यप्रवरेण अभयकुमारेण तदाऽनुसमधायि[2]; किमिदं वृत्तमिति! अन्ततोगत्वा निष्कर्षपरामर्शनेन चेत्यज्ञायि—"यक्षाधिष्ठितवपुरयमर्जुनो मारयति मनुष्यान्। नास्योपद्रवस्योपशमः सामान्यशक्तिभाजा नरेण कर्त्तुं शक्यः, किन्तु समयमासाद्य केनचिन्महामहिम्ना मनुष्येण साम्यमेष्यतीति" अथान्ते विफलायासेन तदुपप्लवविप्लुतेन पूर्णप्रजावत्सलेन पार्थिवेन पूर्यामित्युदघोषि—"कोऽपि चिरं जिजीविषुः पुमान् मागात् नगर्या बहिर्गुणशीलोद्यानदिशि। यदि कश्चिदगमिष्यदज्ञाततया स्वबलावलेपेन वा तममारयिष्यद् गर्जयन्नर्जुनः कृतान्ताकृतिः, सोऽभविष्यच्च चिराय तत्रैव भूशायी।"

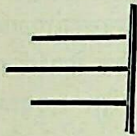
इदमाकर्ण्य सावधानाः सर्वेऽपि पौरास्तस्यामाशायां[3] नहि जिगमिषाम्बभूवुः। किन्तु केचन दुःसाहसमासाद्य, केचन कौतुकनिरीक्षणपराः, कतिचन दिङ्मूढतया, काचिन् मृत्युमप्यवगणयन्ती कार्यव्यग्रा वृद्धा, काचिच्छगणानयनलोलुभा बालाः, काचिद् गोरसाद्यानयन्ती चाभीरी, कतिचन परसन्निवेशादागच्छन्तः पान्थाः[4] शाकटिका[5] वा दैवादर्जुनप्रतिज्ञामपूपुरन्।

इत्थं पञ्चमासत्रयोदशदिनानि यावत्प्रत्यहं सप्त-सप्तजनमारणप्रह्वेण अत्यन्तनिष्ठुरचेतस्केनाऽऽततायिनार्जुनेन एकादशशतैकचत्वारिंशज्जनाः समूलमुज्जासिता विशसिता जीवनाच्च्याविता श्च। हा! कीदृक् चाण्डलिकी वृत्तिश्चण्डाशयानाम्!

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये कामुकाऽऽलाप-कामगर्हाऽर्जुननियन्त्रण-वनिताबलात्कार-कुपितार्जुन-कृतयक्षगर्हा-कामुकहनन-साक्षेपनारी-मारण-नित्यसप्तजनहननात्मकः-तृतीय. समुच्छ्वासः

---

१. प्रयत्न. कृतः २. अनुसन्धानमकारि ३. दिशि
४. अध्वगाः ५. ये शकटवाहकाः



चतुर्थः समुच्छ्वासः

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदिवा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।

—(भर्तृहरिः)

पर्यायरूपेण प्रतिसमयं वस्तु परावर्त्तनमाकाङ्क्षति । उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मिका त्रिभङ्गी विविधभावभङ्गीभिस्तरङ्गयति कृत्स्नामपि विश्वस्थितिम् । यथा वल्गद्वातवीचिपारिप्लवानि भौतिकसुखानि विलसन्ति तद्वद् दुःखान्यपि क्षणिककक्षां लक्षयन्ति । वस्तुतः–यत्सुखं तदेव दुःखम्, यद् दुःखं तदेव सुखम् । सुखमिवदुःखमप्यावश्यकं मन्यन्ते मनस्विनः । मधुवन्निम्बमपि पीत्वा पेप्रीयन्ते रोगोपशममिच्छवः । सुखे हर्षोत्कर्षपरवशा हि दृश्यन्ते दुःखे दैन्यमुद्वमन्तः । अतः साम्यमेव काम्यमामनन्तो महर्षयो जीवन्तोऽपि मुक्तिसुखलेशास्वादमनुभवन्ति ।

तेन रोषपरवशेनार्जुनेन भृशमुपद्रुता राजगृहपूर्जनता । यत्र कुत्रापि सम्मिलन्तः पौरा एतामेव कथां पप्रथिरे । कदेमं कष्टाऽकूपारं[१] तरिष्यतीयं पुरी ? कदैषा रक्तपानपिपासिता चण्डा मालाकारकृच्चण्डी सौहित्यमासाद्य मुण्डं परावर्त्तयिष्यते ? अद्यापि नहि कान्यपीदृशानि चिह्नानि दृक्पथमवतरन्ति, यथेयं व्यथाज्वाला शैत्यमुद्भाव-

१. कष्टसमुद्रम्

येत्। भगवन् ! किमस्माभिरीदृंशि भूयांस्येनांसि[1] सञ्चितानि यैरेतादृशी भीमाऽऽपद्वल्ली प्रलम्बायमानैव जाजायतेऽस्मदुपरि। एवं सर्वेऽपि तत्रत्या दुःखपङ्के आकण्ठमग्नाः विकल्पतल्पे शयाना नित्यमुत्स्वप्नयामासुः।

इतो भविनां भाग्यप्रभञ्जनैः[2] प्रेरिताः पर्जन्या इव, सांयान्त्रिका[3] इव च धर्मप्रवहणेन भवार्णवं स्वयं तरन्तो निजाश्रितान् तितीर्षून् तारयन्तः, ग्रामानुग्रामं विहरन्तः, परोपकृतिमयं जीवनं यापयन्तः, भगवन्तोऽर्हन्तः श्रीमद्वर्धमानस्वामिनो राजगृहस्य गुणशीलोद्याने पदार्पणं चक्रुः।

तत्रभवतामागमनं धार्मिकचक्राय सूचयदिवाकाशे चचाल धर्मचक्रम् निर्द्वन्द्वाऽचलानन्तसुखाभिलाषिणो भव्या भगवतामंह्रिसरोजमाभेजानाश्रिराय नन्दन्तीत्यावेदयन्निव देवदुन्दुभिरुच्चैर्नभस्तले नदितुं लग्नः। चलद्धर्मचक्रं शब्दायमानं च सुरदुन्दुभिं निरीक्ष्य पुनराकर्ण्य नृपेण नागरिकैश्चेत्यबोधि- "नूनमत्रभवन्तश्चरमतीर्थङ्करा आर्यदेवार्याः समागताः, गुणशीलोद्यानभूभागमलंकुर्वाणास्तिष्ठन्ति। अर्जुनभिया तत्र गन्तुमप्रभूष्णवः श्रेणिकाद्याः समेऽपि श्रद्धालवो जनास्तत्रस्था एव प्रभुं यथाविधि ववन्दिरे, हर्षोत्कर्षतया तुष्टुविरे, धैर्यमनधीरयन्तश्चाभिदधिरे--"भगवन् ! वयं भृशं भीरुका भवन्तं भवनस्था एव भजामहे, नहि साक्षात्कारं कर्त्तुं च क्षमामहे। धन्य-धन्यः सोऽपि कश्चित्समयः समेष्यति यदा श्रीमतां मुखचन्द्रं साक्षाद् प्रेक्षिष्यामहे चरणयुग्मं च शिरसाभिवन्दिष्यामहे।"

अथ सुदर्शनश्रेष्ठिनापि व्यलोकि चञ्चद्धर्मचक्रं अश्रावि च देवदुन्दुभिनादो यदा, तदा भगवतां मङ्गलमयमागमनं स्वचेतसि निश्चितम्। हर्षप्रकर्षेण विकस्वरवदनकमलो रोमाञ्चकञ्चुकितः परमार्हतो विमलदर्शनः सुदर्शनो विचारयितुं लग्नः—"धन्योऽद्यतनो वासरः स्वर्णमयेन रविणा प्राकट्यं नीतः। धन्येयं मङ्गलमयी वेला, धन्येयं श्रेयोघटनपटीयसी घटिका, धर्मदक्षैश्च प्रतीक्ष्योऽयं क्षणः, येषां नामधेयश्रवणमात्रेणापि कृतार्थाः स्युः प्राणिनां सार्थाः; तेषां महमद्य साक्षात्कारं करिष्ये। किमतः परं शुभं विभाति विश्वस्मिन् विश्वे ? श्रेयःसलि-

---

१. पापानि २. भाग्यपवनैः
३. पोतवणिजः

लसिक्तः फलितमद्य मम भाग्यतरुः । गुणरत्नानां निधिरद्य मम सन्निधिं प्राप्तः ।" इत्थं परामृशन् सुदर्शनो भगवद्दर्शनाय सज्जो बभूव । सज्जीभूतं परमहृष्टमानसं प्रस्थानोन्मुखं पुत्रं प्रविलोक्य पप्रच्छतुर्मातापितरौ—"नन्दन ! क्वाद्य प्रस्थातुमनाः सज्ज इव दृश्यसे ? किं किल केनापि सहचरेणाऽऽमन्त्रितोऽसि भोजनाय ? उता¹ऽन्यस्यां कस्याञ्चिद् धार्मिकसभायाम् ? अन्यत्र कुत्राप्यथवा जिगमिषा तावकीना ?"

करौ कुड्मलीकृत्य सुदर्शनः—"नहि पितरौ ! अहं तु श्रीमतां मम परमाराध्येष्टदेवतानां महावीरप्रभूणां दर्शनार्थमुत्कण्ठितोऽस्मि । तत्रैव जिगमिषुरहं शुभाशिषा वर्धनीयः" ।

भयमाविर्भावयन्तौ पितरौ—"किमुदितम् ! दर्शनार्थं गुणशीलोद्याने ? आलप्यालमिदम् !! विस्मृता किमुत मालाकारस्य नृशंसता ? सूनो ! कस्य न वल्लभतमं भगवद्दर्शनं वर्वर्त्ति ? निर्द्वन्द्वं तच्चरणद्वन्द्वं कस्को न स्प्रष्टुं स्पृहयेत् ? शमथपथ प्रदर्शयन्त्यः सुधारसकिरस्तद्गिरः न कस्य कर्णजाहं पुनते ? किन्तु समयवैपरीत्यमुज्जिहीते, विरुणद्धि च प्रतिष्ठासुभिः पञ्चजनैः समम् । कुलकेतो ! अहरहो जाजायमानं हत्याकाण्डं नाकर्ण्यते किमुत ? सद्मनि-सद्मनि बोभूयमानमाक्रन्दनं नास्कन्दति² किमुत तव कारुण्यसरोवरम् ? सन्ति भगवन्तः केवलज्ञानभाजः । प्रतिसमयं विलोकन्ते करामलकवल्लोकालोकभावान् । रहसि विहितमपि प्रेक्षन्ते ते साक्षात्कारतया प्रक्षीणज्ञानावरणाः । अन्वयदिवाकर ! भावबुभुक्षिता हि भवन्ति महात्मानः, नहि बाह्याडम्बरं विशिषन्ति सात्त्विकवृत्तयः । अतो विरम विरमामुष्मादसामयिककृत्यात् । अत्रैवाषित्वा भक्तिप्रह्वतया भगवन्तमत्यन्तशुद्धमनसा सविनयं प्रणंनम्यस्व, स्तोत्रादिपाठैरभिवादयन् रमस्वात्मानन्दे, पुषाण पुनराध्यात्मिकीं पद्धतिम् । नूनं सम्यक्तया भविष्यति तव विधेयस्य³ विधिवद् विहिता वन्दना, नात्रसंशयावकाशः ।"

अव्यग्रतया सुदर्शनः—"मातर पितरौ ! किमुद्भाविता भवद्भ्यां भीरुभावं भजमाना भारती⁴ ? महावीरानुयायिनां युज्यते किमेतादृशी कातरता ? ये वर्धमानस्यान्तेवासिनो दृढश्रद्धालवः श्राद्धाः सन्ति तेषां नहि कुत्रापि साध्वसम्⁵ । तद्वचनमवचनीयतया समाचरन्तो मृत्युमुखेऽपि

---

१. उत-विकल्पे
२. शोषयति
३. विनीतस्य
४. वाणी
५. भयम्

सुखमासादयन्ति निर्भीकतया श्रावकाः। आवीचिमरणापेक्षया प्रतिपलं म्रियत एव प्राणी। कवलीकृतान् जेगिल्यमानः क्रोडीकृतान् कथं त्यक्षति त्यक्तदयः समवर्त्ती ? अध्रुवाणामसूनां कृते ध्रुवं धर्मं चेत् परिजह्यां तदा को मादृशोऽन्यो मेदिन्यां देवनांप्रियः ? अविनश्वरात्मिकसुखहेतवे नश्वरान् प्राणानुत्सृज्येयं तदा तु चिराय चारभटचक्र—चक्रवर्तित्वमाचरेयम्। पूज्यौ ! पुनरिदमवधेयम्—यदहं सौवात्मनि जन्तुमात्रेषु मैत्रीं परिसूत्रयामि तर्हि मया सह कः प्रत्यवस्थास्यते ? यदहं सुतरां सर्वसत्त्वेष्वभयं भजामि तदा को मां भापयितुं प्रभुः ? यर्हि कृत्स्नामपि महीमहं बन्धुतया निबध्नामि तर्हि को मां विरोत्स्यति निष्कारणम् ? नालोकितं किमु परमकारुण्यप्रतिष्ठितानां जिनेन्द्राणामुपकण्ठे यद् सिंही सारङ्ग-शिशुं स्निह्यति। नहि गर्जति मारयितुमुन्दुरुमपि मार्जारी। नकुलोऽपि नहि व्याकुलयति व्यालचक्रबालम्। अहह ! नित्यवैरिणोऽपि वैरमुत्सार्य वृण्वन्ति हार्दिकसोहार्दम्। अहमपि तेषामेव शिष्योऽस्मि। यद्यपि नहि तादृशी पराकाष्ठा बिभ्राजते मदीया तथापि तद्ध्यानपरे मयि तादात्म्यसम्बन्धेन सम्पत्स्यते सैव शक्तिरित्याशासे निःसंशयम्। जनकौ ! तात्त्विकदृशा विलोकनेन नहि अजरामरस्य जन्तोर्जाजायते जातुचिदपि मरणम्। जीर्णवाससां परित्यागे नहि कष्टमुट्टङ्कयन्ति निष्टङ्कितान्तःकरणाः सुकृतिनः कृतिनः। वीरोपासकौ ! अतो जिनेन्द्रदर्शनोत्सुकं पौरस्त्यमङ्गलमाचरन्तमकुतोभयममुं पुत्रं निःशङ्कतया मुदाऽऽज्ञापयताम्[४] वर्धापयतां वर्धमानानन्दौ शुभकार्यमाद्रियमाणं चैनम्।"

जननीजनकौ प्राणप्रियस्य सुदर्शनस्य विलसद्वीरत्वं क्लिश्यत्कातरत्वं चारुविचारचतुस्रं विहिताऽऽयतिहितरचनं वचनं कर्णातिथीकृत्य तस्य निश्चलतामुन्नयन्तौ अन्तर्भीतावपि "यथासुखं कुरु" इत्युच्चार्य तुष्णीं भेजतुः।

अथ सानन्दमनाः सुदर्शनः पादचारेण वीरदर्शनार्थं प्रतस्थे। उत्तरासङ्गादिशोभितां दर्शनोचितां वेषभूषां विलोक्य मार्गे मिलिता अनेकशः सवयस्काःप्रस्थानकारणं जिज्ञासाञ्चक्रिरे। तन्मुखाद् वीरसाक्षात्कारायेति निशम्य सर्वेऽपि स्तब्धाश्चित्रलिखिता इवाऽभवन् अवदंश्च प्रेमसरःस्नातया वाचा—"सखे ! नायं कल्याणकारी कालस्तत्र गन्तुकानाम्। समयमजानाना विज्ञा अपि मूर्खशेखरतामादधते।

---

४. द्विवचनम्

भगवन्तोऽत्र बहुधा समागताः समेष्यन्ति च । मङ्गलमातन्वत्तद्दर्शनं न वयं निषेधचिकीर्षः, किन्तु तद्दर्शनस्थलं कः प्राप्स्यति, पथि पूर्वमेव दारुणोऽर्जुनः साक्षाद् यम इव दर्शनं दास्यति करस्थेन मुद्गरेण प्राणान्तं च दर्शयिष्यति । मित्र ! मन्यस्वाऽतोऽस्मदीयामात्मनीनां शिक्षाम् ।"

स्मयमानः सुदर्शनः—"अत्यद्भुतम ! मञ्जुमन्त्रणा मित्रवर्याणाम् । सहचराः ! किं निर्मास्यध्वे यूयं जगत्कल्याणाय येषामियान्निर्बल आत्मा ? इयान् मरणातङ्कः ? कालस्तु कल्याणकारी कल्याणकर्मणा भविष्यति, नहि कल्याणकल्पनया । उद्योगिनःकर्मठा नाऽनेहसं प्रतीक्षन्ते, प्रत्युताऽनेहा तानीहमान उत्तिष्ठते[1] । वदन्ति विद्वांसस्तु—"शुभस्य शीघ्रमिति" न जाने आगामिकः समयः कीदृशः समेष्यति ? समयोऽमूल्यधनम् । समयो महत्साधनम् । समयं सिषाधयिषूणां सिद्ध्यन्ति सर्वाणि कार्याणि । किञ्च, ग्रामान्तरेऽप्यागतान् प्रभून् निशम्य बहुधा दर्शनार्थं यामि, तदत्रैव विराजमानान् देवार्यान् न कथं पर्युपासे ? नहीदृशो मन्दभागधेयोऽहं यन्मृत्युविभीषिकयाऽऽत्मानमपि जिनदर्शनाद् वञ्चयेयम् । सखायः ! क्लिष्टाध्यवसायेषु तु बहुशो व्यापन्नं मया, किन्तु नाऽभूत्किमपि भद्रम् । अद्य चेदर्जुनमुद्गरप्रहारेण भगवल्लयलीनस्तद्ध्यानैकतानो विधूतसर्ववासनो म्रियेय तदा किमतः परं भव्यं भावि ? स्निग्धाः ! मा स्म वहन्मुधा खेदम्, सुनिश्चितं वरेण्ये कारणे वरिष्ठं कार्यं वर्तिष्यते ।" इत्थमतीव तदात्मदार्ढ्यं मन्वानाः सर्वेऽपि सखायः "शुभं भूयात्" इत्याचक्षाणाः पथपार्थक्यं प्रापुः ।

विद्युच्चमत्कृतिरिवैषा प्रवृत्तिः समस्तेऽपि नगरे विस्तृता । तत्र कतिचन जना व्रजन्तं सुदर्शनं वीक्ष्य तत्कृत्यमनाद्रियमाणा सव्यङ्गमुपजहसुः ।

आस्ये हास्यलास्यं दर्शयन्नेकः—अद्य क्व प्रस्थिता इमे महात्मानो मित्र ?

द्वितीयः—न जानासि किमु ? इमे भक्ताः प्रस्थिता भगवद्दर्शनार्थं तत्पादस्पर्शनार्थं च ।

साट्टहासं तृतीयः—मृषोद्यमिदम्, किन्तु वदेत्थं भद्र ! मृत्युदर्शनार्थं भूमिघर्षणार्थमर्जुनहर्षणार्थं च ।

---

१. उदोऽनुर्ध्वचेष्टायामित्यात्मनेपदम् ("तैयार रहता है" इतिभाषा)

ससिंहतालशब्दं पुनरपि द्वैतीयीकः—मूर्खोऽसि त्वं तु, भक्तानां चिकुरमपि वक्रयितुं कोऽपि कोपी[1] नालम्। मृत्युमुखे तु त्वादृशा मादृशाः पापीयांसः पतन्ति।

पुनस्तार्तीयीकः—वरं-वरं, क्षमस्व-क्षमस्व, आशातिता महामनसो मया।

पार्श्वस्थितस्तुर्यःकश्चित्—तदा त्विमे भक्ता नगरोपद्रवं शामयितारः?

पौरस्त्यः—नगरोपप्लवस्तु शमित एव विद्धि, यदेदृशा भक्ता गच्छन्ति।

द्वितीयः—अवश्यमवश्यं स्वयमेव शान्ता भवितारः स्वर्गं पवित्रयितुम्।

साट्टहासं हसन्तः सर्वेऽपि—अनवसरज्ञोऽसि त्वं तु रङ्गे भङ्गमापादयसि।

चतुर्थः—ईदृक्षा अवसरा अपि जातुचिदेव मिलन्ति।

प्रथमः—'आम्' 'आम्!' जनानां सङ्कुलता नास्ति मनागपि मार्गे।

द्वितीयः—अहह! विज्ञातम्-विज्ञातम्! विजने भगवद्भिःसह वार्त्तायाः सम्यगवसरो मेलिष्यति, बहूनां मध्ये सूक्ष्माणां प्रश्नानां समाधानं भवत्येव नहि।

सर्वेऽपि—ईदृशाः प्रस्तावा भक्तैरेव लक्ष्यन्ते नापरैः।

प्रथमः—ईदृशाः भगवद्भक्ताः कियन्तः सन्ति समस्तेऽस्मिन् पत्तने?

तृतीयः—केवलं पञ्चषा[2] एव भक्तसत्तमा[3] वर्तन्ते।

सविस्मयं द्वितीयः—तर्हि पञ्च कुत्र पञ्चत्वं प्राप्ताः, कथमनेन सार्धं न सम्मिलिताः?

तृतीयः—दुर्मुखोऽसित्वम्, पञ्चत्वं कुत्र प्राप्ताः, अर्जुनेन नामशेषतां नीताः।

द्वितीयः—अहो! अहो!! नामशेषतामासादयितुमयमपि प्रयतते।

---

१. क्रोधी। २. पञ्च वा षड् वा।

३. भक्तश्रेष्ठाः

प्रथमः—किं विचित्रमिदम् ? नामशेषा एव संसारे जीविताः सन्ति, अन्ये तु त्वादृशा जीविता अपि मृतप्रायाः ।

द्वितीयः—त्वादृशा अपि ।

तुरीयः—तर्हि गच्छन्तु-गच्छन्तु, भवन्तु शीघ्रं यशःशेषा इमे महात्मानः ।

कतिचन भद्रप्रकृतयो धार्मिकाः सुदर्शनं यान्तं दृष्ट्वा परस्परमिदमालेपुः—"धन्योऽयं पुण्यात्मा सुदर्शनो यन्मृत्युभयमप्यवगणय्य वीराग्रणीर्महावीरदर्शनाय प्रस्थितः । धन्याऽस्यप्रसूर्यया ईदृक् पुत्ररत्नं प्रसूतम् । प्रशस्याऽस्य धर्मनिष्ठा यदापत्स्वपि नहि कर्तव्याद् विरिरंसा ।[1]

केचन सुजनास्तु सहानुभूत्यर्थमागोपुरं सुदर्शनेन सार्धमपि प्रचेलुः । पुनः कतिपये मृगा इव कुतूहलाकुलाः सुदर्शनस्यानुपदं शनैः शनैरसरन् । योगीश्वर इव सुदर्शनः स्तुतौ निन्दायां साम्यं सेवमानोऽथ पुरगोपुरं प्राप । सहयायिनः सर्वेऽपि पारावारतटस्थपुरुषा इव तत्रैव तस्थुः । दृश्यदर्शनोत्सुकाः केचन गोपुरस्योपरितनभागमध्यूषुः । प्रेत्य भवेऽसुमान्निवैकाकी पुराद् बहिः सुदर्शनः सुकृतसहायश्चचाल । तदा मूर्तिमानिव शान्तरसेन संपृक्तो वीररसः, एकत्रित इव धैर्यराशिः, अवतरित इव दृश्यो धर्मः, कल्पितकाय इव कारुण्यभावः, जङ्गम इव गुणरत्ननिधिः, प्रत्यक्ष इव नियमः, महावीराभिमुखं गच्छन्नयं गोपुरस्थैर्जनैरतर्कि ।

इतः प्रत्यहं सप्तजनव्यापादनव्यापृतहस्तः कोपविहस्तः प्रवृद्धक्रौर्यविचारः शरारुरर्जुनोऽरण्ये मृगयामन्वेषयन् व्याध इव गुणशीलोद्यानद्वारि स्कन्धे मुद्गरमाधाय कमप्यागन्तुकं प्रतीक्षाञ्चक्रे । निर्भयमायान्तं सुदर्शनं विलोक्य हृष्टमना विकल्पयितुं लग्नः—"अहह ! आगच्छति कश्चिन्मम प्रतिज्ञां पूरयितुं प्रथमः पिण्डः ।[2] अत्याश्चर्यमिदम् !! यत्प्रायोऽज्ञातपरासनरहस्या[3] हि जना मत्सामीप्यमासेवन्ते, अन्धा इव च मरणान्धकूपे निपतन्ति । अद्य तु विदितविश्ववृत्तान्त इव मुमूर्षुः कश्चिन्मम सम्मुखीनो वर्वर्त्ति । हन्त ! अक्षतनिर्धेर्विधेः कः पारं प्राप्तुं पारयेत् ? पतितोऽप्यजगरः कुक्षिम्भरि-

---

१. विरन्तुमिच्छा । २. पिण्डः-ग्रासः ।
३. परासनम्—हननम् ।

र्भवेत्। केवलामिषभोजनव्रतोऽपि केसरी प्रतिघस्रं घस्मरः स्यात्। मुक्ताफलचर्वणचलच्चञ्चूनां विशदवंशानां कलहंसानामपि तर्पणं कणेहत्य[1] जायते। अहो! जनार्दनपराक्रमं मां यद्यपि जानीते जगत् तथापि सार्धपञ्चमासा व्यतीयुः प्रत्यग्राः[2] सप्तव्यक्तयो मम सकाशात् कृतान्तकवलतां कलयन्त्येव।"

उम्![3] उपोद्यानमाप्तोऽयं मृतप्रायः। कीनाशदेशं प्रेषयाम्येनमधुनैवेति निश्चिन्वन् मुद्गरमावर्त्तयन् अधीराणां धृतिं विधुरयन् दधावे।

सहायुधं दानवमिव धरित्र्यां धावमानमर्जुनमालोक्य गोपुरस्थाः सर्वेऽपि भयद्रुता अजनिषत। हा! हा!! क्रोडीकृतोऽयं[4] प्रियदर्शनः सुदर्शनः श्राद्धदेवेन[5]। अविलम्बितमस्थ जीवनं लम्बमध्वानमालम्बिष्यते। पापिष्ठमालाकार! कुत्रापि समयं नहि वेवेक्षि? स्वौद्धत्येन सर्वत्र साम्यमापादयसि? कीदृशानि कीदृशानि नररत्नानि च प्रत्नेन्द्रिय[6]-मन्दिराच्च्यावयसे? अनारेकणीया[7] खलु निर्विवेकानां प्रवृत्तिः। सुधीस्तु प्रतिपदं संदेग्धि किमपि विधातुम्। नहि मातृमुखानां[8] सम्मुखे वैदुष्यं वीर्यं कौशलं च दर्शनीयं कदापि निपुणैः। ग्रामटिकानिवासी जडाकृतिर्जनः किं जानाति प्रस्फुरत्पाटवं विदुषां विद्यावैलक्षण्यम्। पाटलवाटिकायां प्रविष्टोऽपि चक्रीवान्[9] किमु नामोदमोदमुदास्ते? कदलीकानने कृतावासोऽपि करभः किमु रम्भावलभनप्रागल्भ्यं वल्गयेत्?

ऐक्षिष्ट सुदर्शनोऽपि मुद्गरमुल्लालयतः साक्षात् कृतान्तनृत्तं नाटयतोऽर्जुनस्यागमनम्। सत्वरं तत्रैवोर्ध्वंदमो भूत्वा निर्भयभावनया विभावयितुं लग्नः—"आगादयं रोषपरवशो दयनीयदशो जनान् तर्जयितुकामोऽर्जुनः, किन्तु नहि व्यापादयितुं शक्यते क्रुधा दारुणः क्रोधदानवः। वष्टि स इन्धनसङ्घातेन कृष्णवर्त्मनः शमनं यो विरोधं प्रतिशोधेन प्रशामयितुमिच्छति। नहि कण्डूतिकरणेन साम्यमापादयति पामा। प्रतिकूलेन धर्मेणाऽनुकूलनीयं प्रतिकूलं वस्तु,

---

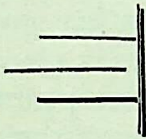
१. मनोहत्य। २. नव्याः।
३. उमिति रोषोक्तौ। ४. आलिङ्गितः।
५. यमेन। ६. प्राचीनशरीराद्।
७. असंशयनीया। ८. मूर्खाणाम्।
९. गर्दभः।

नहि तदनुकूलेन। जलमेवानलं शीतीकर्त्तुमलम्। वैश्वानरो हि शैत्यं शातयितुं शक्तः। क्षमैव कोपगदस्योत्कृष्टमौषधम्। सत्य-मुक्तमेकेन नीतिज्ञेन "क्षमैव परमः प्रतिशोधः।" क्षमा शूराणामल-ङ्कृतिर्नात्र कातराणामधिकारः। अत एवाहमपि क्षमावर्मितो भूत्वा रचनात्मकोपदेशेनैव रोषमस्य शेषदशां नयामि, नहि वागुपदेशस्या-ऽवसरः साम्प्रतम्। इति ध्यात्वा तत्कालमेव करौ कुड्मलीकृत्य भग-वन्तं महावीरं प्रभुं प्रणम्य व्यजीज्ञपत् "भगवन्! त्रिकालदर्शिन्! त्वद्दर्शनं विधित्सुरहं बाह्योपसर्गमभिमुखमासाद्य त्वच्छाक्ष्यतः नहि यावत् त्वत्साक्षात्कारं कुर्वे तावत्कालमभिव्याप्य क्षणभङ्गुरमङ्गमिदं व्युत्सृजामि, चतुर्विधाहारमपि प्रत्याख्यामि, सर्वाऽसुमद्भिः सह मैत्रीं च सूत्रयामि। त्रिजगत्पते! अद्यैव मम परीक्षावासरो लब्धा-वसरः। कृपार्णव! वितरेदृशीममोघशक्ति यथाहं जगतां पुरतः प्रोन्न-तकन्धरः स्थितिमाप्नुयाम्, आर्हतानां महदादर्शं दर्शयेयं, प्रकटयेयं च तव सर्वातिशायिमहिमानम्। अनन्तशक्तिधर! छात्राणां परीक्षो-त्तीर्णता भवत्यध्यापकानामपि महत्वप्रदर्शिनी। जायते सैनिकानां विजये हि सेनापतेर्विजयः। पुत्रस्य श्लाघा हि पितरं श्लाघते। अमन्दानन्दमय! तव कृपापीडमिलन्मौलिरहं नितान्तनिर्भयोऽस्मि, वासनानिर्वासनेन पूर्णसुहितोऽस्मि, त्वच्चरणात्मार्पणतया चाऽत्य-न्तसुखितोऽस्मि। अयि धैर्यधोरेय! त्वदुपदेशामृतप्रीणितानां ध्यानं कः क्षोभयितुं क्षमः? त्वच्चरणकमलचञ्चरीकाणां चित्तं कश्चाल-यितुमलम्? इत्थं स्वान्तपरिणतिं[1] विशदयन् रत्नसानुरिवाऽकम्प्रपदः समाधिस्थयोगीन्द्र इव निमीलितनयनयुगलस्तत्रैवोत्तस्थौ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये भगवदागमनं सुदर्शनस्य दर्शनार्थं सज्जीभवनं, पित्रोर्निवारणं, पुत्रस्य प्रत्युत्तरणं, केषाञ्चित्सव्यङ्ग्यमुपहसनं, सुदर्शनस्याभि-तोऽर्जुनस्य धावनं, ध्यानस्थित्यवलम्बनं चेतिमुख्य-वर्णनमाबिभ्राणश्चतुर्थः समुच्छ्वासः

---

१. मनःपरिणाम्।



पञ्चमः समुच्छ्वसः

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ?

—(भवभूतिः)

अहह ! सप्तस्वपि भयेषु मरणभयं भयङ्करमनुभवन्ति भूमिस्पृशः । आकर्ण्यापि कर्णाकर्णिकया कस्यचिन्मरणवृत्तान्तं हिमानीकम्पं कम्पन्ते जनानामन्तःकरणानि । अत्रागच्छन्त्यः सर्वा अपि आशा आशा[1] इव शून्यतां सेवन्ते । सर्वेऽपि कल्पितमनोरथा अत्रैव तल्पशयाना जायन्ते । विश्वं जिष्णूनामत्रैव शोश्रूयते पराजयडिण्डिमः । परन्तु ये मृत्योरपि न बिभ्यति, कालस्याग्रतोऽपि नहि वैकल्यमाकलयन्ति, तेषां वीरोत्तंसानां क्व भयम् ? क्व तेषां निरीहाणां पराभवसम्भावना ? अस्तु, कूटस्थनित्यमिव स्थेमानमाभेजानं विनिर्गताऽऽतङ्ककलङ्कं शशाङ्कमिव क्षरत्कारुण्यामृतवर्षं सुदर्शनं दर्शं-दर्शं नेदिष्ठमागतो गर्जन्नर्जुनश्चेतसीदं व्यचिन्तयत्—"अहो ! नाद्राक्षमेतादृक्षं विक्रान्तकोटीकोटीरायमाणं मर्त्यमहम् । यो ममाग्रतोऽपि त्रोटितभयमुद्रां ध्यानमुद्रां निश्चलमवलम्बते । धावनक्रन्दनादिकथा त्वास्तां दूरेण, वैवर्ण्यमपि नहि वृणुते बताऽस्य वदनारविन्दम् । विलक्षणोऽयंमनुष्यः, विलक्षणमस्य शैलस्पर्धि धैर्यम्, चित्रणीयाऽस्य सहिष्णुता, प्रशंसनीयाऽस्य तल्लीनता, विलोकनीयाऽस्याऽलौकिकी च स्थितिः ।

---

१. दिश इव ।

आः ! किमयं स्थाणुरुत पुरुषः ? नरो वाऽयं नाकी ? चेतनो वाऽयं जडः ? हन्त ! नहि किमपि निश्चेतुं शक्यते । अन्ये त्वन्यदा दारुणाकृतिं दूरतोऽप्यभिमुखीनमाकलय्य मां कान्दिशीकतां दर्शयन्ति । "मां मामीमरः मां मामीमरः" इत्युच्चैः पूत्कुर्वन्तश्च मृतप्राया मिलन्ति । कतिचन मां निभाल्य क्रोधोध्माता आचिक्रमिषवो[१] मयि स्वबलावलेपमुद्वहन्तः सांयुगीनतां[२] व्यञ्जयन्ति । अपरे मद्गर्जनामारादेव[३] कर्णातिथियन्तो यमस्याऽतिथ्यं चाद्रियन्ते । किं जातमद्य ? प्रत्यहं जाजायमाना घटनाः समूलं वैपरीत्यमनुधावन्ति । अहो ! अस्य मुखं न क्रोधं, न भयं, न दैन्यं न दम्भं च व्यनक्ति । किन्तु प्रेमाऽऽसारधाराभिः मद्रोषदावं शीतीकर्त्तुमुत्सहते । अरे ! रे !! अपसर-अपसर, याहि-याहि, अलं तवाधुना बकध्यानेन । शतशस्त्वादृशा भक्ता मृत्युतीर्थमवतारिता अमुनाऽर्जुनेन ।" इत्थं साऽन्तर्जल्पं बहु विकल्पयन् स पापीयान् तदानीमेव सुदर्शनविग्रहं परासुं[४] दिदृक्षुः कृपाकृपणाभ्यां कराभ्यां मुद्गरमुदतूतुलत् ।

भव्याः ! कस्तं चालयितुं, क्षोभयितुं, मारयितुं वा प्रभुर्यस्य धर्ममहाराजो जागरूको रक्षायै बद्धलक्ष्यो विराजते । धर्मकल्पतरोः सान्द्रच्छायायामासीनानां नराणां दुःखानि वैमुख्यमाख्यान्ति । सुखानि सान्निध्यमध्यासते । हर्षः प्रकर्षमियर्ति । विषादो बाधामासादयति । सम्पदः प्रतिपदं परिष्वजन्ते । विपदो नास्पदमास्तिघ्नुवते[५] । जनाः ! एतादृशं निष्कारणकरुणापरं महारक्षकं संप्राप्यापि कथमितरच्छरणामीहमानाः कृच्छ्रपात्राणि भवथ ? न कथं धर्ममहामहीपस्य चरणे सर्वस्वमुपदीकुर्वन्तो विश्वसथ । त एव मूढा जगति घात्यन्ते, पात्यन्ते, हन्यन्ते, मार्यन्ते च ध्रुवं धर्मशरणमनाद्रियमाणा भ्राम्यन्ति, निश्चलं अनासेवमानाः प्रगल्भन्ते ।

अस्तु, उर्ध्वीकृतगदो जागरूकमदोऽर्जुनो धर्मप्रभावतो भगवदनुभावतो वा नहि गदां निम्नयितुं शशाक । अहो ! वीक्षन्तां क्षणं दक्षाः ! प्रेक्षणीयमिदानींतनमहिंसाहिंसयोर्निर्द्वन्द्वं द्वन्द्वम् । इतस्तु मालाकारस्य जगद्ग्रसनोत्सुका कोपाध्मातलोचना निष्कृपं दन्तच्छदौ दशन्ती[६] गृही-

---

१. आक्रमणं कर्त्तुमिच्छवः ।
२. रणे साधुताम्, "सांयुगीनो रणेसाधु" रिति हैमः ।
३. दूरादेव । ४. मृतम् ।
५. ष्टिघङ्त् आस्कन्दने आङ्पूर्वः प्राप्त्यर्थे ।
६. दंशसञ्जोरपि इति न लोपः ।

तकदाग्रहा सविग्रहा हिंसाराक्षसी। इतस्त्रैलोक्येऽपि मैत्रीं सूत्रयन्ती सत्प्रेमप्रोत्फुल्लनयनाभ्यां महदाकर्षणमाक्षिपन्ती जगद्विजयिनी परम-पूता साकारा सुदर्शनस्याऽहिंसा देवी। प्रोच्छलन्ती हिंसाराक्षसी वष्टि दयादेव्या उपरि स्वतन्त्रं स्वाधिपत्यम्। अभिलषति च कारुण्यपूर्णा दयादेवी निस्त्रिंशहिंसायाः समूलोज्जासनम्। काऽत्र विजेष्यते, का पराभविष्यतीति संदिहन्ति दुर्गस्थाः पञ्चजनाः। उत, पुष्करावर्त्त-स्याग्रतः कियत्कालं स्वबलावलेपं दर्शयेद्दावानलः? विबुधसेवितायाः सुधायाः पुरस्तात् कियत्कालं तिष्ठेद्धालाहलकोलाहलः? अहिंसादेव्याः पुरतः स्वकीयं शौर्यं तुच्छतां गच्छद् विलोकमाना निर्दयतादानवी समजनि किंकर्तव्यविमुखा। अथ पूर्णशारीरिक-मानसिकशक्त्या गदयाऽऽहन्तुं प्रयतमानस्याप्यर्जुनस्य नहि शुम्बमात्रमपि गदा निम्नत्व-मागात्, किन्तु व्यायामविधातुरिव करोत्थापिता एव शुशुभे। तदानीं विस्मितेन खिद्यमानेन च चेतसा व्यचिन्ति मालिकेन—"कोऽयं वृत्तान्तः। केयं घटना घटिता? कथमिव मम प्रयत्नः फल्गुतां वल्गयति? प्रथमोऽयमवसरो यन्मम प्रयासो विपर्यस्यति। बत! बत!! नितान्तमत्-साहाय्यमनुतिष्ठन् मुद्गरोऽपि कथमद्य मया सह शात्रवं सोसूत्र्यते? किमयं पञ्चमासत्रयोदशवासरैरेकादशशतैकचत्वारिंशत्संख्याकान् जनान् निघ्नान उद्विग्नतां गतः? उत, अस्य रक्तपिपासा सौहित्यमाप्ता? आहोस्विद्, अयमपि दयार्द्रीभूतहृदयः संभूतः? अरे! मुद्गर! चिराय सौहार्दं[1] निबध्नन्नपि किमद्य विलक्षणतां कक्षीकुरुषे? त्वयि तु पूर्णं विश्रम्भो मम विलसति। त्वमेव चेत् विश्वासघातं विदधासि तदाहं कं शरणं प्रपत्स्ये? प्रारब्धकर्मणि नहि विश्रान्तिमीहन्ते महीयांसः।

आ! ज्ञातम्, भीरुकमेव भीषयन्ते प्रायेण, निर्भयात् पुनः समेऽप्या-शङ्कन्ते। अहो! "देवो दुर्बल-घातकः" इति किंवदन्त्यपि चरितार्था-ऽद्य संवृत्ता। मुद्गर! त्वमेवाद्य निशङ्कं वीराग्रणीं पुरुषपञ्चानन-मभिमुखीनमभिगम्य चापल्यमुत्सार्य स्थैर्यमाश्रितोऽसि, न कथं दैनन्दिनं[3] कार्यं निष्पादयसि"? इत्थमान्दोलायितचेताः क्रोधाभिमानसंपृक्तमतिः क्रियासमभिहारेण पूर्णतरसा मुदगरं न्यक्कर्त्तुमुदयँस्त, किन्तु दरि-द्रकल्पना इव सर्वा अपि चेष्टा नहि स्वेष्टं जघटिरे।

---

१. मैत्रीम् २. नरम्
३. दिने दिने क्रियमाणं।

इतो, वैराग्यपद्माकरे प्रेङ्खां निर्मिमाणः देवार्यचरणसरोजे रोलम्बवद् रममाणः पञ्चत्वमप्यनाशङ्कमानो योगिराडिव दार्ढ्य-माबिभ्राणः क्षणान्तरं सुदर्शनः परामृशत्—"अहो ! अधुनावधि न कथं घातुकेन मद्घातपातकं सञ्चितम् ? इयन्तं विलम्बं किमित्यालल-म्बे शरारुः ? अवितर्कितप्रवृत्तिभाजो भवन्ति हि हिंसकास्तु"। इत्थं समवदधता सुदर्शनेन कारुण्यपुण्ये नेत्रे समुद्घाटिते, व्यलोकि-चोर्ध्वंकृतमुद्गरोऽर्जुनः। जाते ह्यहिंसा-प्रतिष्ठिते श्रेष्ठिनः दृक्पाते तत्कालमेवाऽर्जुनवपुर्विरहय्य कम्पमानान्तःकरणः गृहीतहिंसापक्षो यक्षः पलायाञ्चक्रे। उदञ्चिते वा मरीचिमालिनि कथमिवान्धकारं स्थितिमासादयेत् ? समुन्नते वा पतद्धारासारे पर्जन्ये किं नाम निदाघो-द्राघीयस्तामुद्दीपयेत् ? समागते च पक्षिराजे दृक्कर्णः[1] कियत् फटाटोपं च स्फोटयेत् ? पलायिष्ट खलु मुखमदर्शयन्ती हिंसाराक्षसी। पर्यपूर्यत[2] दिक्चक्रवालमहिंसादेव्या विजयघोषेण।

यक्षावेश- विरहितोऽर्जुनो झगित्येव मूर्च्छारोगिवद् भूमौ पपात। रक्तरक्तिमरक्तो मुद्गरोऽपि परपीडाकारिणां सुनिश्चितं पतनमित्यावे-दयन्निवैकतोऽपतत्। क्षमा वा मह्यं क्षमां दास्यतीति विचारयन्निव क्षमां शरणीचकार।

अथ दूरीभूतोपसर्गः परिपूर्णप्रतिज्ञः सुदर्शनस्तं यक्षावेशशून्यं मूल-स्वभावमाविष्कुर्वाणमाकलय्य बन्धुत्वमावध्नन्त्या भाषया भाषयामास- "भद्र ! किं भूमौ लुठन् परामृशसि ? उत्तिष्ठ, पश्य, च तवाग्रतस्तव बन्धुरुध्र्वन्दमोऽस्ति। अर्जुन ! क्रोधं परित्यज, क्षमां चाद्रियस्व भ्रातः ! त्वया यक्षावेशपरवशेन घनं दुष्कृतमाचरितम्। कज्जलश्यामलमयशः सञ्चितञ्च"।

एवं सुदर्शनस्य वागमृतेन सिक्तः किञ्चित्प्राप्तचैतन्य इवाथाऽर्जु-नो वितर्कयति स्म—"कोऽहम् ? कुत्रत्योऽहम् ? कुत्रागतोऽहम् ? किं कृत्यं मे ? कथमत्रपतितोऽस्मि?" शनैः शनैर्व्यपगतमदिरोन्मादमानववत्[3] स्वकीयं नामकार्यादिकं संस्मरन् षण्णां नरापसदानां बन्धुमत्याश्च वधमाध्यायन् प्रतिदिनं सप्तजनव्यापादनं च चिन्तयन् भीत इव जज्ञे। नूनमयं कश्चिन्नरपुङ्गवो वर्तते यो मधुमधुरया वाचा मामुल्लापयति। अस्य महामनसोऽनुग्रहेणैव मद्यक्षावेशो शेषतामितः। प्रणमाम्येनं

१. सर्पः। २. दिङ्मण्डलम्।
३. व्यपगतो मदिराया उन्मादो यस्य सचाऽसौ मानवस्तद्वत्

मनस्विनम् पृच्छाम्यस्य मंङ्गलमयमभिधेयादिकमत्रागमनकारणञ्च। इत्यालोच्य निद्रामन्थर इवोत्थितः स श्रेष्ठिनः पादौ प्रणमन् प्राञ्जलतया प्राञ्जलिरित्यन्वयुङ्क्त–"क्व वास्तव्याः श्रीमन्तः? कानि कान्यक्षराणि पुनीते भवतां शुभमभिधेयम्? कथमत्र पदार्पणम्? क्वाग्रे यियासा?" इति जिज्ञासुरयं जनः।

तदानीं मार्दवपूर्णया वाण्या श्रेष्ठी प्रत्यूचे—"भ्रातः! तत्रैव मन्निवासो यत्र यौष्माकीणः। "सुदर्शन" इत्याख्ययाऽऽख्यान्ति मां पुमांसः। भगवद्दर्शनार्थं चाहं प्रस्थितोऽस्मि। अध्वनि तव जिघांसुवृत्तिं मंमन्यमानेन मया भगवद्ध्यानमारब्धम, तेषामनिर्वचनीयमहिम्ना सर्वमरिष्टं नष्टम्। त्वमपि औत्सर्गिकीं दशामापन्नः।"

सारल्यतरलितं समीचीनं तद्वाङ्मयमाकर्ण्य मालिकेन परामृष्टम्—अहो! भव्यभक्तिरक्तानां भगवद्भक्तानामपीदृशी लोकोत्तरा शक्तिर्विलसति, यदेतेषां सम्मुखं वधविचारचतुरो महाक्रूरकर्मकारी यक्षोऽपि भियेव गृहीतदिग्,[1] तदा त्रिलोकीमहितानामतिशयसहितानां किं नाम कथनम्? हन्त! यक्षसेवाहेवाकिना मुधैव गमितो मया इयाननेहा, इयत्समयपर्यन्तं चेद् वर्धमानं विभुमसेविष्येऽहम्[2] न जाने कियत्साफल्यमप्राप्स्यम्। खलु गतं किं शोच्यम्? वर्तमानमेवाऽनुवर्त्तनीयमिति विचार्य सुदर्शनं प्रति क्लेशगद्गदया गिरा बभाषे—"श्रेष्ठिवर्य! मय्यपि दयां निधाय निवेदयतु यत् के सन्ति ते पतितोद्धारप्रवणा महनीयचरित्रा महात्मानो भगवन्तो महावीराः? यद्दिदृक्षया[3] भवान् मरणातङ्कमपि नाऽऽशशङ्के, मादृशे[4] पशुवृत्तयेऽपि च मानवतामदीदृशत्। अभिलषाम्यहमपि तेषां नयनामृतं दर्शनम्। सुहृद्वर्य! किं व्यनज्मि मम मन्दमेधसो गर्हास्पदमनुष्ठितम्? हा! हा!! मुद्गरपाणेर्यक्षस्यावेशेन एकादशशतैकचत्वारिंशत्संख्याकान् जनान् व्यापाद्य घनाघनादपि कृष्णतरम् अयोघनादपि निकाचितम्, वज्रादपि कठोरतमम्, महारण्यादपि सान्द्रम् विषादपि च कटुकम्, निरयेणापि दुर्भोगं, पापं समचायि। हा! हन्त! नागरिका मह्यं क्रुध्यन्ति, मन्नामधेयं श्रुत्वापि [5]दरमुदीरयन्ति, दुराशिषा निर्भर्त्सयन्ति, कोपकषायितेनाऽक्ष्णा

---

१. पलायितः २. स्यदादेरात्मनेपदस्योत्तमपुरुषस्यैकवचनम्
३. येषां दर्शनेच्छया ४. चतुर्थी ५. भयम्

मां वीक्षन्ते च। धिङ् माम्, धिङ् माम्। आः! पापीयसा मया किमपि नाज्ञायि यत् षण्णां नराधमानामागसि[1] जागरिते नागरिकाणां किमागः प्राग्भारः? बत! बत! कतिचन पर्युपासनीया वर्षीयांसः,[2] भविष्योज्ज्वला दुग्धमुखा बालाः, कार्यभारवोढारो युवानः, मातृवत्पूजनीया अबलाश्च क्रोधान्धलेन मया दण्डधराय प्राभृतीकृताः। अथवा, रक्तद्विष्टानां देवानां सेवया न कथं सेवका रागरोषाकुलाः स्युः? कारणानुरूपं हि कार्यमुद्भवति, कात्र विचिकित्सा[3]। वीतरागपर्युपासी सर्वत्र समदर्शी निर्मलाचारी भवान् समस्तैर्नागरिकैर्बन्धुतया विलोक्यते, प्रेमपूतया च दृष्ट्या सत्क्रियते। उताहो, किं चित्रमत्र? येन कारुण्यपुण्यमेवोपदेशामृतं नितरां निपीतम्, कातरतां कर्त्तयन्ती वीरतामीरयन्ती मुद्रैवोन्निद्रमालोकिता, सर्वत्र साम्यं सूत्रयन्ती वैरं विधुरयन्ती च शिक्षैव सततं निशमिता[4]।

अस्तु, परोपकारपरायण! मामेव वीरोपकण्ठं नयतु, अधमोद्धार-तत्परां तन्मूर्त्तिं ममापि दर्शयतु, तदुपदेशपीयूषं च पाययतु। गुणिशेखर! भगवद्दर्शनार्थं भवान् अस्यामाशायामागत इत्यहं न मन्ये, किन्तु मामेव प्रतिबोधयितुमना इह कृतागतिः इत्येव निर्णये।

गुणज्ञ! भवदनुग एवाऽहं, सुरासुरगमनागमनसङ्कुलम्, विराजमानसाधुसन्दोहभासुरभूतलम्, तातप्यमानभूरितपस्वितपसोद्दिप्ततेजस्कम्, पेप्रीयमाणध्यानावलम्बितबाहु-वाचंयमविशुद्धवातावरणम्, त्रिलोकीपतिपवित्रितं तत्स्थलं प्रवेष्टुमलं भविष्यामि। अन्यथा मादृशमाततयिनं तत्र कः प्रवेशयिष्यति? भवत्सङ्गमेन ममापि श्रेयः संवत्स्र्यति। निम्नभूभागमध्युषितमप्यम्भो गुणिघटेन सह उच्चैर्गतिमासादयति। पावनगुरुचरणसरोजसंस्पृष्टा धूलिरपि मानवानां मौलीनलंकुरुते, अतोऽधुनैव भवतु प्रष्ठो[5] भवान् भवाम्यहमनुगामी भवताम्।

आर्यदेवार्याणामतितरां तस्य दर्शनचिकीर्षां मन्वानेन सुधयेव सिञ्चता, सुमानीव वर्षता च सुदर्शनेनाभाणि—"भद्र! अलं विलम्बेन, तत्र जिगमिषुं त्वां कः प्रतिरोद्धुं प्रभुः? तेषां परोपकृतिपण्डितानां महावीराणामहर्निशमुद्घाटितं द्वारं वर्त्तते समेषां जगज्जन्तूनां कृते।

---

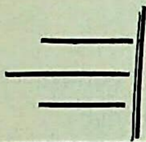
१. अपराधे २. वृद्धाः ३. संशयः

४. शमोऽदर्शने, अन्यत्रदर्शने अेव ह्रस्वः इति मताश्रयणात्।

५. अग्रगामी

तत्र गन्तुं धनाढ्यानां-अकिञ्चनानां, भूभृतां-रङ्काणां, ज्ञानिनां-अज्ञानिनां, धार्मिकाणां-अधार्मिकाणां, कुलीनानां- अकुलीनानां, सुखिनां-दुःखिनां, सुमनसां-तिरश्चां च तुल्याधिकारोऽस्ति। भ्रातः ! निजाचीर्णान्यधमाधमानि कृत्यानि स्मारं-स्मारं किं खिद्यसे ? तत्र दुःसाध्यानामप्यामयानां प्रतीकारः सम्बोभवीति। देवानुप्रिय ! मन्तूँस्तु जन्तुर्जनयत्येव नात्र नवीनं किमपि। वरेण्यं त्विदमेव गण्यं यद्दोषा दोषरूपतया विज्ञाताः स्युः, चेतस्तान्निराकर्त्तुं च चेष्टेत। तदेहि, तत्राऽऽवां गच्छावः।" इत्थं परस्परमालपन्तौ तस्यां दिशि प्रचलेतुः।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये सुदर्शनस्य मारणाय मालिकस्य मुद्गरोत्तोलनं, श्रेष्ठिनो दृक्पाताद् यक्षस्य तिरोभवनं, श्रेष्ठिना सहाऽर्जुनस्य प्रभुदर्शनार्थं-गमनं—चेत्यादिवर्णनात्मकोऽयं
पञ्चमः समुच्छ्वासः



षष्ठः समुच्छ्वासः

"चिन्त्यो न हन्त ! महतां यदिवा प्रभावः"

—(सिद्धसेन दिवाकरः)

"भगवन् ! तवानन्तवीर्यं विभात्यनन्तचतुष्टये । वचनातीतविषयं तव गौरवम् । त्वद्ध्यानैकताना हि योगिनो न क्षुधा क्षुभ्यन्ति, न तृषा त्रस्यन्ति, न शैत्येन कम्पन्ते, न तापेन क्लिश्यन्ते, घोरां तपश्चर्यामाचरन्तः परमानन्दसुखास्वादं च सेवन्ते । त्रिजगत्पते ! त्वयि तन्मयतामातन्वानास्तनुभृतस्तत्कालमेव दुरधिगमां त्वत्तुल्यकक्षां लभन्ते । विलक्षणं तव सौजन्यं सर्वेभ्योऽप्यन्यदेवेभ्योऽतिरिच्यते । सर्वदर्शिन् ! गतोऽद्यावयोः कालेयखण्डं प्रेयान् सुपुत्रः सुदर्शनस्तवदर्शनार्थम् । परमेष्ठिन् ! बहु निषिद्धमावाभ्यां घातुकार्जुनभीतिभीताभ्यां तत्र गन्तुम्, परन्तु स तु त्वयि पूर्णश्रद्धेयतामादधानोऽस्मद्वचनेन समं समवर्त्तिसाध्वसमप्य[1]-नादृत्य निःशङ्कं त्वत्पूतां दिशमनुससार । देव ! शक्षावः किमावां पुनरपि तद्वदनकमलं द्रष्टुम् ? विनयविनता तत्कन्धरा स्प्रक्ष्यति किमुतावयोः क्रमयुगलम् ? विन्यस्तो भावी किमावयोः सव्येतरकरः[2] स्निग्धकेशवेशविलसिते तन्मस्तके ? श्रोष्यावः किमुत पीयूषं स्रवन्तीं सलिलवत्सरलां च तन्मुखसरस्वतीम् ? त्वच्चरणकमलकृपया नूनं मङ्गलमाकलयिष्यत्यस्मत्तनुजस्तथापि प्रेमपरिप्लुतं हृदयं नहि स्थास्नु[3] भवति, भगवन्!"–इत्थं भक्तिमोहमिश्रितां विविधकल्पनां कल्पयन्तौ स्मारं-स्मारं

१. मृत्युभयमपि २. दक्षिणहस्तः
३. स्थिरम

सुदर्शनमश्रुप्रवाहेण भूतलं पल्वलयन्तौ प्रतिक्षणमागन्तुकजनानां सकाशात् तद्वृत्तान्तपृच्छनप्रह्वौ क्षणाद्धर्षं क्षणाच्छोकं अनेकविचारधाराभिराविर्भावयन्तौ सुदर्शनस्य मातरपितरौ गृहे कथंकथमपि समयं यापयाञ्चक्रतुः ।

तावत् क्षणादेव महानन्दकरसन्देशाभिनन्दितः पंफुल्यमानान्तःकरणः कतिपयनागरजनमुखोत्थितो मङ्गलमयो महाध्वनिर्मातापित्रोः कर्णकोटरे प्रविष्टः । "शुभं-शुभम्, मङ्गलम्-मङ्गलं, कल्याणं-कल्याणम्, भद्र-भद्रम् । गतं-गतमरिष्टं नगरस्य । चिरेण नगरमस्तकस्था सघनाऽऽपद्घनाघनपटली वीरदर्शनभक्तिवात्यया प्रतिकूलं प्रेरिता विलीनेदानीम् । न यदुपलिङ्ग[1] चातुरङ्गिकसेनासमन्वितेन श्रीमता श्रेणिकेन राज्ञा प्राशामि, तदेकनैव वीरदर्शनोत्सुकेन वीरभक्तेनाऽप्रहरणपाणिनाऽपि निर्द्वन्द्वमुपशमितम्, पुनरहिंसायाः साकारं चित्रमुपढौकितं जगतां पुरस्तादऽनेन वस्तुवृत्या", इत्याम्रेड्यमानं हर्षोत्कर्षितयोच्चकैर्जेगीयमानं बहुजनोदितं तुमुलमिवाकर्ण्य सुदर्शनस्य पितरौ कर्णयोराकृष्टाविव-"किमिदम् ? कुत इदम् ? कथमिदम् ? सुदर्शनस्याभिधेयं श्रुतिपटमुट्टङ्कयति ?" इत्थं वावदूकौ गृहाद् ससंभ्रमं बहिरागतौ परीपृच्छ्येतेऽदः–"भो ! भो ! भद्राः ! किमद्भुतमद्यनगरे जागर्ति यदियान् कोलाहलो लोके समुल्लसतितराम्?"

आगन्तुकः कश्चित्—नज्ञायते भवद्भ्यामद्यावधि किमिदमपि, भवदन्वयदिवाकरेण यदद्भुतमाचरितम् ?

पितरौ—नहि, नहि, ब्रूहि भद्र ! कर्णामृतं पायय ।

आगन्तुकः—ओः ! असाध्यमवसितमपि साधुतया साधितं भवत्पुत्रेण ।

हर्षपरवशतया पितरौ—विशकलय्य[2] जल्प भ्रातः ! शक्नुवोयथाऽऽवामप्यवसातुम् ।[3]

तावदनेके दुर्गस्था जना धावमाना सुदर्शनस्य वेश्म निविशमाना "विजयतां सुदर्शनो विजयतां सुदर्शन" इत्याम्रेडयन्तः[4] जनकात्पूर्णानकं[5]

---

१. यदुपद्रवः २. विस्तारं कृत्वा
३. ज्ञातुम् ४. पुनःपुनरुच्चारयन्तः
५. पूर्णपात्रं वस्त्रमाल्यादि,
यथा—उत्सवेषु सुहृद्भिर्यद् बलादाकृष्य गृह्यते ।
वस्त्रमाल्यादि तत्पूर्णपात्रं पूर्णानकं च तत् ।। इति—हैमः

झगित्येव जगृहिरे, प्रावोचँश्च प्रमोदमेदुरां वाचम्—श्रुतं किमुत पुत्ररत्नस्यालौकिकं कृत्यम् ? अवगता किमद्यतनी घटिता घटना भवद्भ्याम् ?

मोमुह्यमानौ पितरौ—नहि, पूर्णतया नाकर्णिता।

आगन्तारः—श्रूयतां तर्हि, सकर्णमश्रुतपूर्वो वृत्तान्तः।

उत्सुकतया पितरौ—वाच्यं-वाच्यं सविस्तरं सर्वमविलम्बितम्। पारिपार्श्विका अपि बहवो दमदमिकया सुदर्शनस्यालये सम्मिलिताः। नव्यघटितकथाश्रवणतत्परतया सर्वेऽपि तुष्णीमाभेजुः।

तेषां विदितवृत्तानामेको वाक्पटुर्ब्रवीति—भगवत्साक्षात्कारार्थं जिगमिषुणा सुदर्शनेन समं वयमपि कौतुकनिरीक्षणदक्षतयाऽऽदुर्गं प्रयाताः।

जनकः—आम्-आम्, अग्रे वाच्यम्—अस्थाम वयं तु तत्रैव, एकाक्येव वीराग्रणीर्भवत्पुत्रोऽग्रे चचाल।

अन्तराल एवाम्बा—भोः! भोः! मत्पुत्रस्य मुखे तदानीं कापि भयरेखा तु नासीत् ?

वक्ता—अलमुदित्वेदम् भीरुकाणां तत्र गमनस्य क्वाऽवकाशः ? ते त्वत्रैव पतिता म्रियन्ते ?

माता—बाढम्-बाढम्, निवेदयाऽग्रे।

वक्ता—निःशङ्कमायान्तं तमवलोक्य स पापीयानर्जुनो मुद्गरमुत्तोल्याभिमुखं दधावे।

सरोमोद्गमं माता—तदानीं मदङ्गजेन किमनुष्ठितम् ?

वक्ता—तत्कालमेव भगवद्ध्यानमारब्धम्।

सर्वेऽपि पार्श्वस्थाः—हन्त! हन्त! तस्मिन् समये भगवद्ध्यानम्! धन्योऽयं नरपुङ्गवः, धन्यास्य प्रसूः, धन्यमस्य च धैर्यम्।

सबाष्पक्षेपं माता—ततः ततः किमभूत् ?

वक्ता— भगवतां प्रभावतः स मुद्गरं मोटयितुमपि न चक्षमे।

माता—एवम्।

पार्श्वस्थाः सर्वेऽपि—धन्यो भगवतामनुभावः, अतएवैते प्रत्यहमर्हन्तमर्हयन्ति सभक्त्या।

पिता—तदनु का घटना जघटे ?

वक्ता—मुद्गरेण सहैव स भूमौ पतितः ।

माता—अहो ! स भूमौ पतितवान् ? न वेद्म्यहं तु मच्छिशावपीदृक्षाऽगम्या शक्तिः पोस्फुरीति ! अस्तु, पश्चात् ?

वक्ता—न जाने ताभ्यां मिथः किमालपितम्, [1]तेनाऽन्वीयमाननिगमो भवत्सूनुर्भगवद्दिशि प्रतस्थे ।

इति विलोक्यैव वयमत्यन्तं हृष्टमनसो वृत्तान्तममुं प्रचिकटयिषव[2]स्तत्क्षणं नगर्यामागताः ।

इति सकुशलनन्दनवार्तामधिगत्य जननीजनकौ परमां मुदमापेदाते । धन्यवादपुरःसरं तान् जनान् विसृज्य भगवतां तनयस्य च साक्षात्काराय कृताभिलाषौ धार्मिकं यानप्रवरं सज्जीकर्त्तुमाज्ञाशिष्टाम् । घनगर्जेवेयं प्रवृत्तिः समस्तेऽपि पत्तने प्रसृमराऽभूत् । सर्वेषां सुधियां मनश्चत्वरेषु विविधचारुभावाञ्चिता सुदर्शनस्य कीर्तिनर्तकी नरिनर्ति स्म तदानीम् । प्रजाऽऽखण्डलोऽप्यवगत्य वृत्तमिदं निरातङ्कं च[3] नगरं पुनरपि पूर्यामुद्घोषयामास—"अत ऊर्ध्वं कास्वपि काष्ठासु[4] यदृच्छया गच्छन्तु सुजनाः नहि कापि [5]भीर्जरीजृम्भ्यतेऽर्जुनस्येति" ।

इतो नानायथार्थतीर्थनाथार्थवादैरर्जुनं प्रीणयन्, महापुरुषाणामनुत्तरचरित्राणि व्यावर्णयन्, क्षमाशूराणां तितिक्षादक्षत्वमुद्भावयंश्च सुदर्शनो भगवतामभ्यर्णमाजगाम । दूरतोऽप्युदयाचलावलम्बिमार्तण्डमण्डलमिव सपादपीठसिंहासनभासमानं व्यपगतशोकैराश्रयणीयोऽयमित्यावेदयन्त्यामिव सन्ततप्रोत्फुल्लाऽशोकतरुच्छायायां विवृद्धच्छायम्, त्रिलोक्यामपीदृक् पारमेश्वर्यं कुत्रापि नास्तीति प्रकटयद्भिरिव छत्रत्रयैर्विलसद्गौरवम् नात्रेषदप्यबोधान्धकारप्रसारोऽस्तीत्याविर्भावयतेव विभाजालभासुरेण भामण्डलेन देदीप्यमानोपकण्ठम्, कर्मरजांसि सततं धुन्वानाभ्यामिव चाचल्यमानचञ्चच्चामराभ्यां वीज्यमानमुखारविन्दम्, आन्तरमलेन सह बहिष्कृतबाह्यमलम्, अस्नातमपिस्नातानुलिप्तमिव कमनीयकान्तिम्, प्रखर

---

१. अन्वीयमानोऽनुगम्यमानो निगमो—मार्गो यस्य सः ।

२. प्रकटयितुमिच्छवः ।

३. अवगत्य, उभयत्र योज्यम्, चकारस्य समुच्चयार्थत्वात् ।

४. दिक्षु । ५. भीतिः ।

तेजसमप्यनुष्णातपम्, शिशिरदीधितिमपि कलङ्कविकलम्, शैलेशीं समीपयन्नपि जडिम्ना वर्जितम्, त्रैलोक्यविभुत्वमाश्रयन्तमपि निष्परिग्रहम्, त्यक्तपद्मासनमपि[1] पद्मासनस्थम् भस्माक्षमालाद्यलक्षितमपि परमयोगिराजम्, करामलकवल्लोकालोकनाटकं विलोकमानमप्यऽविस्मितमानसम्, शान्तिमयम्, ज्ञानमयम्, महोमयम्, गोतमादिगणधरैः क्रियमाणविविधप्रश्नोत्तरम्, कल्पनाभिरकल्पनीयम्, वर्णैरवर्णनीयम्, वचनैरवचनीयम्, साक्षात्कारेणैव मननीयम्, अनन्योपमेयं च महावीरं तीर्थेश्वरं ददर्श ।

सम्पन्ने हि स्याद्वादवादिनः साक्षात्कारे सुदर्शनस्य च जातं रोमाञ्चकञ्चुकितं वपुः । उद्वेलितोऽभूत् सहजानन्दसरस्वान् । प्रोत्फुल्लानि खलु हृदयकमलपत्राणि । [2]आहितं सद्भावनया योगत्रिकम् । विस्मृतानि सर्वाण्यपि विहितवैमनस्यानि । परितः प्रस्फुटिता विशुद्धा वैरङ्गिकी व्यवस्था । मन्दायिता कृत्स्नापि मानसी व्यथा । केवलं विभुमयमेव चालोकि ताभ्यां विष्टपं[3] तदानीम् । तत्क्षणमेव सुदर्शनः पञ्चाभिगमनानि संयोज्य यथास्थानमागत्य त्रिःकृत्वो विधिवदादक्षिणप्रदक्षिणां विरचयन् सविनयं नमस्कृतिं विदधत् कल्याणमङ्गलादिध्वनिभिः साधुवादमुदीरयन् सुखप्रश्नं च परिपृच्छन् भक्तिपुरःसरं प्राञ्जलिपुटः सानन्दमित्थं प्रार्थयितुं लग्नः—"अयिनाथ ! चातुरङ्गिके चराचरे विश्वे संसरतां संसारिणां त्वमेव शरणमसि । अनाथानां योगक्षेमकर्त्ता त्वमेव नाथोऽसि । अधमोद्धारविरुदं त्वमेवावहसि । करुणाकर ! त्वत्करुणयैव दुर्जनाः सज्जनतामर्ज्जयन्ति । पापिष्ठा धर्मिष्ठतां स्पष्टयन्ति । अज्ञानिनो ज्ञानजुषो जायन्ते । मिथ्यात्विनः सम्यक्त्वमासादयन्ति । नास्तिका आस्तिक्यं हस्तयन्ति । त्रिकालज्ञ ! त्वया किमप्यनवसितं नास्ति, यदस्माभिः किञ्चनापि शुभमशुभमाचर्यते । अस्मन्मनस्युत्पदिष्णवः सर्वेऽपि संकल्पास्त्वयि स्फटिकवत् प्रतिभान्ति । अस्मदिन्द्रियग्रामस्योत्पथगामित्वं त्वदस्फुटं नास्ति । प्रभो ! तथा कामपि सरिणीं निर्देशय यथा करणान्तःकरणयोः[4] वशीकारप्रयोगः स्यात् ।

१. त्यक्तं पद्मायाः—कमलाया आसनं येन, निष्परिग्रहत्वात् तथापि विरोधाभासे पद्मासनस्थम् ।
२. भावितम् । ३. भुवनम् ।
४. इन्द्रिय-मनसोः ।

हे तीर्थप्रवर्त्तक ! यो मया सार्धमागतोऽर्जुनमालाकारः कुदेवार्चकोऽसम्यग्दर्शी विद्यते । कृपालो ! अनेन हिंसाद्यास्रवाऽनभिज्ञेन कुदेवसेवितया रोषपारतन्त्र्येण च निबिडः पाप्मोचितः[1] । पञ्चमासत्रयोत्रदशवासराणि यावद् वशासप्तमाः[2] षट् पञ्चजना[3] निःसंकोचं जीवनाशं नाशिताश्च । करुणामूर्ते ! साम्प्रतमयं विभोरतिशयेन जागरूककरुणः स्वात्मना विरचितादारुणादेनसः[4] सकाशाद् वेपते, स्मारं-स्मारं तद् भृशं ग्लानिमनुभवति, वष्टि च गर्हिताचरणस्य प्रायश्चित्तमपि । भवगदस्यामोघाऽगदङ्कार ! अस्य मृतप्रायस्य च्युतजीवित्ताशस्य [5]जीवातुस्त्वद्दते कोऽपि नहि जागर्ति जगतीतले । देव ! अतो वद्धसंकल्पो दृढनिश्चयोऽयं त्वामेव शरण्यं मत्वा मया सार्धं समागतवानस्ति । पतितोद्धारक ! अत एवाहं प्रार्थयेऽमुमत्राणं त्रायस्व, अस्याऽसहायस्य सहायतां विधेहि, देहि चास्मै निराश्रयाय चरणारविन्दे पदम् । एतदेवास्ति कार्यं भवादृशाम् ।"

इत्थं विनयभारसंभृतां सत्यामात्मनीनां सुदर्शनस्य विज्ञप्तिमाकर्ण्य प्रावृट्पयोदध्वानप्रतानसोदरया नानाभाषापरिणमनस्वभावया भूरिशंसयापनोदक्षमया चेतोहारिण्या वाचा वाचंयमानां विभुः प्रोवाच—"देवानुप्रियाऽर्जुन ! धैर्यं धेहि, विश्वसिहि, तुभ्यं निर्देक्ष्याम्यहं शान्तेः पन्थानम् । कुसंस्कारवशंवदतया प्रायो जायन्ते एवात्मसकाशाद् अकृत्यान्यपि कृत्यानि, तत्कर्तनोपाया अपि चिरन्तना वहुशो विद्यन्ते, ब्रूहि, किं जिज्ञाससे ?"

तावदनेकैर्नागरिकैरहंपूर्विकया समागतैः विस्मयमानमानसैः स्मयमानाननैः परिपूर्णाभूत्तत्रभवतां परिषद् । तेषां समक्षे करौ सम्पुटीकृत्य शिशुवत्सारल्यमाश्रयन्नर्जुनः सविनयं प्रश्नयाञ्चकार—"भगवन् ! [6]किंकारणानि दुःखानि ? कारणानां च कुतः प्रादुर्भावः ? कथं पुनस्तेषां निरंशो नाशः ? त्रिकालवित् ! आत्मा कथं पापमुपचिनुते ? कथं तत्र वृत्तिः साहाय्यमाददीत ? पापेभ्यो निवृत्तिः कथं जायते ? कथं च निर्वृतिमाप्नुयात् ? इत्येव जज्ञासुरयंजनः, कृपां कुर्वतां कृपालवः ।"

---

१. पुल्लिङ्गोऽयमन्नन्तः । २. वशा सप्तमी येषाम् ।
३. षड् मर्त्याः । ४. पापस्य ।
५. जीवनौषधम् ।
६. किं कारणं-निदानं येषां तानि किंकारणानि ।

अल्पाक्षरमपि बहुसारगर्भितम्, बाह्यवाग्वर्गणापुद्गलजन्यमप्यन्तस्तलस्पर्शि, विविधभावभङ्गिदिग्धमप्यसंदिग्धम्, घनरसवदकर्कशमपि मिथ्यात्वमहाद्रिभेदक्षमम्, ऐदम्पर्यविलक्षणमपि सम्पन्नकारकादिलक्षणम्-साधारणजनवेद्यमपि गूढतत्वम्, सरलं, सुग्रहं, सुमधुरं च भगवान् प्रत्युत्तरमर्पयामास—"विलोक्यते चेद् वास्तविकतया दुःखपरिपूर्णोऽयं संसारः। जन्मजरामरणप्रभृतीनि प्रभूतानि स्पष्टानि कष्टानि। भौतिकसुखान्यपि परिणतिविरसत्वात्सुखाभासान्येव। संसारिणः प्रतिपलं दुःखदावे दंदह्यन्ते सासह्यन्ते च विविधाधिव्याधिविसंस्थुलाः कृच्छ्रपरम्पराः। मुख्यतया दुःखकारणं तु तृष्णैव। तृष्णापि च निदानानां भेदैर्भिद्यमाना बहुरूपा निरूप्यते तत्त्वज्ञैः। यथा केचन विभवाभिलाषिणः, कतिचन कामभोगकाङ्क्षिणः, केचित् पुत्रादिपरिकरकामयितारः, कतिचनऐश्वर्यमिच्छवः, इतरे यशोभिलाषुकाः, परे सम्मानाऽन्वेषिणः, अपरे च स्वास्थ्यप्रार्थिनः, किं बहुना, नानावस्तुजातगृध्नुतया तृष्णाऽपि नानारूपेण जनान् दुःखाकरोति, भ्रामयति, खेदयति, पीडयति, चिन्तयति[1] मारयति च। हन्त ! इयं सर्वभक्षा तृष्णा राक्षसी कुत्राऽपि तृप्तिं नाञ्चति। लाभेऽपि लोलुभा मुखं विस्फारयति, सुज्ञानऽज्ञानगर्तेऽर्त्तंयति, विरागार्हान् भवरङ्गाङ्गणे नर्त्तयति, अत्रस्तान् त्रासयति, अनष्टान् नाशयति, दृढव्रतान् भ्रंशयति, सुन्दरसंकल्पान स्त्रंसयति, धैर्यधौरेयान् ध्वंसयति च। यावन्तोऽनर्था जन्यन्ते[2] जगत्यां ते प्रायस्तृष्णाविस्फूर्जिता एव। ये ये वीरपुरुषान् जुह्वतो[3] महाहवा भवन्ति भूतले, ते कृत्स्ना अपि तृष्णातर्पणायैव। ये ये ग्रसितन्यायवादा विवादा उद्बुध्यन्ते तेऽपि स्वस्वमनोरथरथाऽऽरोहणायैव। ये ये च धर्मनाम्ना बोभूयमाना उपप्लवास्तेऽपि च स्वार्थान्धतयैव। अस्तु, तृष्णैव दुःखकारणम्, तृष्णैव-कृच्छ्रभाजनम्, तृष्णैव दुःखमूलम्, येषामुच्चलोच्चयमुन्मुच्य[4] प्रचलिता तृष्णाचमूरी[5] तेषां सर्वत्रानन्दलहरी परिस्फुरति। तेषामुदासीनवृत्तितया मुदाऽऽसीनानां प्रतिपदं निधानानि चकासति। उपेक्षादक्षाणां तेषां सर्वत्राऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारः। मानापमानयोर्हर्षविषादयोः सुख-

---

१. चिन्तां कारयति　　२. जनैः इति कर्मणि प्रत्ययत्वात् अध्याहार्यम्

३. जुह्वत् जुह्वतौ जुह्वतः प्रथमाया बहुवचनम् किं भूताः महाहवाः वीरपुरुषान् जुह्वतः।

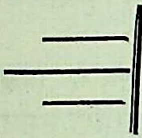
४. चित्तरूपगिरिम्　　५. मृगभेदा

दुःखयोर्जीवनमरणयोश्चतेषां साम्यम् । अनासक्तिभाजां तेषां जीवतामपि सिद्धिसौख्यलेशोऽत्राप्यवभासते ।

तृष्णोत्पत्तिस्तु पूर्वविहितकर्मसंस्कारजनिता । सम्यग् ज्ञानद्वारा हि तृष्णाया निरंशो नाशः । यथा-यथा चैधते तृष्णा तथा-तथा देहिनः पापवृद्धिरवश्यं भाविनी, जातायां च पापवृद्धौ चेतनाऽष्टमृत्तिकालेपानुलिप्ता तुम्बिकेवाऽधोऽधः प्रयाति । आश्रवस्तत्रसाहाय्यमाचरन् स्वभावादुद्गच्छन्तमप्यात्मानं भवाऽगाधगर्ते पातयति । पुण्यपापोत्थिते सुखदुःखे चिरमनुभवन् प्राणी चतुरशीतियोनिलक्षेषु कुलालचक्रवद् भृशं परिभ्रमति ।

यदा च संवरेणाऽऽगच्छन्ति कर्माणि संरुध्य पुनर्बद्धानि च निर्जरया जर्जरीकृत्य सर्वाणि निरन्वयानि पुण्यपापरूपाणि कर्माणि समूलकाषं कषतितमाम् तदैकेनैव समयेन वह्निशिखावद् एरण्डबीजवद् वा स्वभावोर्ध्वंगतिर्बन्धनमुक्तः सर्वदुःखक्षयं महोदयमासादयति नूनमात्मा । तत्राजरामरानन्ताक्षयाऽव्याबाधादिविशेषणविशिष्टान्याध्यात्मिकसुखानि साद्यनन्तभङ्गेनाङ्गीकुर्वन् सर्वलोकमस्तकस्थः शाश्वतः सिद्धो भवति ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये
सुदर्शनपित्रोर्विलपनं, पुत्रस्य शुभसन्देशश्रवणं, सुदर्शनेन
सहाऽर्जुनस्याभिगमनं, नानातिशयाऽतिशयित-
प्रभोरवलोकनं, स्तुतिगर्भमर्जुनस्य कथावि-
स्तारणं, प्रश्नपृच्छनं, प्रभोरुत्तरणं
चेत्यादिवर्णनालङ्कृतः
षष्ठः समुच्छ्वासः



सप्तमः समुच्छ्वासः

याति घनापि घनाघनपटली, खरपवनेन विरामम् ।
भजति तथा तपसा दुरितालिः, क्षणभङ्गुरपरिणामम् ॥
विभावय विनय ! तपो-महिमानम्

—(शान्तसुधारसे)

अनन्तशक्ति-भृदात्मा कर्ममलाविलत्वेन स्वरूपं विस्मृत्य पररूपाछन्नःसन् स्वं शक्तिशून्यमन्वानो भवाटव्यां भ्रमति । हरिरिव यदा स्वरूपं प्रत्यभिजानीते तदा जडात्मनामेषां कर्मणां विनाशे को नामातिशयः ? द्रष्टा तु नयननैर्मल्यादिगुणसमन्वितः स्वयं पुमान् तथापि सूर्यालोकमपेक्षत एव, तथैव कर्त्ता हर्त्ता तु स्वयमात्मैव परन्त्वालोकितात्मानां महापुरुषाणां साहचर्यमपेक्षणीयमेव ।

अस्तु, निशम्याथ चतुरस्रविवेचन-विकचम्, परिस्पन्दमानोपशमरसौतप्रोतम्, विलसदतुच्छप्रशस्यरहस्यविशदम्, हृदयपरिवर्त्तनक्षमम्, अनवरतनिजाचरिततया विततप्रभावम् विभूनां वाङ्मयं स्फुर्जद्वैराग्यगर्जनोऽर्जुनः परमां शान्तिं, परमां मुदं, परमां संविदं चावाप । अनुगर्जं यथा केकी चोकूयते तथैव विभुवचनामृतं निपीय तोष्टूयमानः ससम्मदमित्थं[1] निवेदयामास—"पारगत ! त्वदुपदेशपीयूषं कर्णाहृत्य निपीय प्राप्तचेतनोऽहं जगज्ज्वालातो निजात्मान-

१. सहर्षम् ।

मुद्धर्तुकामः भागवतीं दीक्षां कक्षीकर्त्तुमुत्सहे । पर्जन्यधारासारजन्यो हि दावानलोपशमो नहि परोलक्षघटोदकसेकसाध्यः । मादृशस्याततायिनोऽवनं नह्यणुव्रतोररीकरणेन सम्भवि, किन्तु महाव्रतान्येव मत्कल्पितकल्कानि[1] क्षिप्रमल्पयिष्यन्ति, नात्र संशयः । यत्करणीयं तद् युगपदेव भावद्रढिम्ना करणीयम् । स्तोकं-स्तोकं कुर्वतां मन्थराणां नहि तादृशाऽऽनन्दोपलब्धिः । अतो विश्वतारक ! पतित-पतितं अधमाधमं नरकगमनार्हं निन्द्यचरितमेनं शरणाश्रितं करौ धृत्वोद्धर ! देव ! मादृशामुद्धारे हि दीनोद्धारधुरन्धरत्वं परमकारुणिकत्वं च तवाविर्भावि । उदारचरितानां भवेत् किं कुत्रापि दृग्वैषम्यम् ? विलोकते किमुतासारधाराभिर्वर्षन् उच्चावचं स्थलं परोपकारी जलमुक् ? आलोकयन्नखिलमपि जीवलोकं हेली[2] नावलोकयेत् किमवकरादीन् ? परमेश्वर ! त्वया मादृशा अनेके पापीयसां पुरोगा भवपारावारात्पारं प्रापिताः । मदुद्धारे तव किं काठिन्यं वर्तते ? अतोऽह्नायैनं[3] गृहाणाऽन्तेवासितया, देहि द्रागेनमपि मुनिमण्डल्यां पदम्, जगद्गर्हणीयं जगदर्हणीयतां च प्रापय ।" भक्तिशक्तिनिभृतां श्रुत्वाऽर्जुनस्य विज्ञप्तिं पुनरपि स्वयंभुवोऽचकथन—"अर्जुन ! त्वं मदन्तिके नैर्ग्रन्थीं दीक्षां जिघृक्षसि ? साम्प्रतमेषा तव भावना तु निर्भरं भव्या, परन्तु प्राक् पूर्णतया पराम्रष्टव्यम् यत्साधुत्वमसिधारावलेहनमिव, गुरुतरायो[4]वीवधस्वांसनिर्वहणमिव, शैलशिखरवर्षद्बलाहकसलिलवेगोत्पाटितकूलायां कल्लोललोलावर्त्तशतसङ्कुलायां शैवलिन्यां[5] प्रतिस्रोतस्तरणमिव, सिक्थकमयरदनैर्लोहचणकचर्वणमिव, लक्षयोजनविस्तृतस्य मेरोरङ्गुल्यग्रोत्तोलनमिव, नीरसबालुकाग्रासवल्भनमिव, दुर्निर्वहं, दुःसाध्यं, दुष्करं च वर्वर्त्ति । नात्राल्पसत्त्वानामधिकारः, ते तु साधुत्वनाम्नैव बिभ्यति, वेपन्ते, पलायन्ते च । इदं तु शौर्यपूर्णैर्वैराग्यरागरक्तैर्भीषणपरीषहजेतृभिर्वीतविषयवासनैः पर्युपास्यं, ग्राह्यं, नेयं, श्रेयं च ।"

"ये च बाललीलावल्लघु किमपि क्षणिकमावेगमाभेजानाः, संयमायस्पृहयुस्ते कामप्युदीयमानां कष्टपरम्परां वीक्ष्य संयमे शैथिल्यमावहन्तः श्रान्ताः, उद्विग्नाः, भ्रष्टाः, पथिच्युताश्च जायेरन् । वेषे नहि काऽपि विशेषता वर्त्तते, विशेषता तु वासनाविनाशे, तपस्तल्लीनत्वे,

---

१. मद्विहितपापानि । २. सूर्यः ।
३. मङ्क्षु । ४. "अयोवीवधः"—लोहभारः । ५. नद्यां

स्वतन्त्रमात्ममन्दिररमणे च अतः संयममादित्सुना नरेण पूर्वं दृढ़-संकल्पवता भाव्यम् ।" इत्योजस्विनीं वीरतां वर्धयमानां वर्धमानस्वामिनः शिक्षां कुसुमीकृत्य साहसैकमूर्त्तिरर्जुनः सावष्टम्भं व्यजिज्ञपत्—"तीर्थेश ! भगवतां सूचनाऽक्षरशः समीचनतामञ्चति । नहि शैशवी क्रीडा संयमस्योरीकृति[1]रित्यहमपि मन्ये, श्रद्दधे, प्रत्येमि च, किन्तु मदीयमन्तःकरणं तु सुदृढं, सुस्थिरं, सुसज्जं, सावधानं च विभाति । भीरुकभावस्तु पार्श्वतोऽपि नहि परिसर्पति । जगन्नियामक ! मादृशस्य दग्धहृदये क्व दुर्बलता प्राप्नुयादवकाशम् ? कर्मठः[2] प्रायशो धर्मसंलग्नवृत्तिर्नहि जातुचिदपि तत्र घटयति शाठ्यम् । नाथ ! किं बहु वच्मि ? तव कृपया प्राणानपि त्यक्ष्यामि किन्तु गृहीताभिग्रहात्पदैकमपि नहि चालयिष्यामीतस्ततः ।" इत्थं तस्य पूर्णदार्ढ्यं जानानैर्जगद्गुरुभिरित्याज्ञप्तम्—"यथा सुखं कुरु, मा विलम्बस्व" । इत्थं भगवताऽङ्गीकृतोऽमन्दानन्दाऽभिनन्दितः सुदर्शनादात्तावाचंयमोचितोपधिः परमशान्तरसस्नातः प्रव्रजितुकामोऽर्जुनः करौ कुड्मलीकृत्य भगवतां सम्मुखमुत्तस्थौ ।

गन्धवहेन सार्धं यथा परिमलः प्रसरति वायुमण्डले तथैव कर्णाकर्णिकयाऽर्जुनस्य दीक्षायाः शुभसंवादोऽपि पत्तने प्रसृतः । आकर्ण्य चित्रकरं वृत्तमिदं कुत्रापि द्वित्राः, क्वापि पञ्चषाः, कुहापि सप्ताष्टाश्च जनाः संभूय स्थिता मिथो निगदन्ति—

अरे ! रे!! श्रुतं वा न श्रुतम् ?

परः—किम्-किम् ?

पूर्वः—अद्याऽर्जुनमालाकार उपमहावीरं भागवतीं दीक्षां भिक्षते ।

परः—ह ! ह ! ह ! दुष्टोऽर्जुनः ! जगज्जिघांसुरर्जुनः ! मिथ्या-मिथ्या, वडवा प्रसूता कस्यचिदसमये ।

पूर्वः—ओः ! प्रत्यक्षे किं प्रमाणम् ? गच्छामो वयमधुनैव पश्यामोऽर्जुनस्य प्रव्रजनम् । इत्थं विवदमाना उत्कलिकतया सत्वरमङ्घ्रिपातं प्रतस्थिरे भूरयो भद्राः । झटिति संकटाऽभूत् तीर्थपतेर्घटा[3] पौरपटलैः ।[4] मूर्त्तमिव सात्त्विकरसं प्रत्यक्षमिवोपशमं मालाकारं लोकं-लोकं[5]

---

१. अङ्गीकरणम् । २. कर्मशूरः । ३. परिषद् ।
४. जनसमूहैः । ५. दृष्ट्वा-दृष्ट्वा ।

समेऽपि लोका अलौकिकमाश्चर्यमासदन्। अहह! अचिन्त्यशक्तिभृद-हिंसादेवी! ईदृगसम्भवि परिवर्त्तनम्। आततायी नरोऽपि तायी[1] असहनोऽपि सहनः,[2] निष्कृपोऽपि सकृपश्च समजनि।

अथ कृतपञ्चमुष्टिलुञ्चनमर्जुनं प्रव्राजयन्तो भगवन्तो यावज्जीवं करणत्रिक-योगत्रिकैः सर्वान् सावद्ययोगान् प्रत्याख्यापयन्ति। अष्टादश-प्रकारेभ्यः पापेभ्यो निवर्त्तयन्तः समितिपञ्चके गुप्तित्रिके च साव-धानतां दर्शयन्तः सामायिकं चारित्रं प्रापयन्ति, दशविधयतिधर्मेषु सुदृढं स्थापयन्तिच। अनगारधर्मं प्रतिपद्याऽथार्जुनो मुनिः शान्तो दान्तो-ऽकिञ्चनो ब्रह्मचारी कषायमुक्तश्च षष्ठषष्ठेनानिक्षिप्तेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् चाऽभिग्रहं जगृहे—"अत ऊर्ध्वं ये केऽपि परीषहा अनुलोमा-प्रतिलोमा वा उत्पत्स्यन्ते तान् सर्वान् सम्यक् सहिष्ये, क्षमिष्ये, ज्ञान-दर्शनचारित्रमये मोक्षमार्गे रममाणः सफलं समयमतिवाहयिष्ये पुनः।

इति प्रतिज्ञायाथार्जुनमुनिर्विनयं श्रुतं चाभ्यसन् स्वाध्यायं ध्यानं च प्रणयन् यदा षष्ठभक्तपारणाय तृतीयपौरुष्यां भगवदाज्ञया भिक्षार्थी राजगृहं प्रयाति, तदा केचन जना तमवलोक्य विहितविवेकलोपेन कोपेन-परायत्ताः जनितप्रियवियोगवृहद् भानुज्वालाजाज्वल्यमानास्तादात्त्विक[3]-तद्दर्शनाऽविर्भूतविद्वेषा निगदन्ति स्म, सथुत्कारमिदम्—'धिग्-धिग्! पश्यन्तु पश्यन्तु! आगतोऽसौ लिङ्गवृत्तिरर्जुनः[4] पापीयान्। हन्त! अनेन दुष्टेन मे परमाह्लादजननी जननी दीर्घनिद्रया[5] विद्राविता।

अन्यः—अरे! अनेनैव नीचेनास्मदन्वयाऽऽतपत्रायितः पिता पञ्चत्वं प्रापितः।

इतरः—न विज्ञायते किमु हा! मम परमवत्सलो बाहुतुल्यो भ्रातृ-भानुर्ग्रसितोऽनेनैव राहुणा!

अपरः—ओः! प्रेतवनमिव शून्यमस्ति सदनं मनश्च मम प्रेयसी-वियोगादस्यैव दुष्टस्य निःशूकतया।[6]

परः—बत! बत! हन्त! हन्त! अनेनैव हतकेन मम गृहमणि[7]रे-काकी प्रेयान् ललितालको बालको घातितः! तत्सङ्गशून्यमुत्सङ्गं मम

---

१. रक्षकः। २. क्षमावान्।
३. 'तात्कालिक'। ४. धर्मध्वजी।
५. मृत्युना। ६. निर्दयतया।
७. दीपः

निर्ज्योतिश्चक्षुरिवाऽसुन्दरमाभाति । अरे ! रे ! नीच ! पापिष्ठ ! शठ ! तव किमपराद्धं दुग्धमुखेन मुग्धेन मच्छिशुना ? हा ! हा ! किं करोमि ? क्व यामि ?

इत्थमनेकधा पूर्वविहितविरोधमुद्भावयन्तो विषादमासादयन्तोऽर्जुनर्षिं गालीदानैरवहेलयन्तः कर्णकण्टकायितया कर्कशगिरा अवभर्त्सन् । केचन विरुद्धसंशनेन[1] सह जरठलेष्टुक्षेपमतीतडन् । कतिचन रदच्छदान् दशन्तो यष्टिमुष्ट्यादिभिरवधिषुः सकोपम् । इतरे चञ्चच्चन्द्रहासेन निर्दयं प्राहार्षुः । अपरेऽत्यन्ततेजितलवित्रघातेन रक्तधाराभिरसिष्णापन्[2] । अन्ये सनिष्ठीवनिक्षेपं न्यगकार्षुः । कतिपये पङ्कादिलेपैरलिपन् । किं बहुना, बहवो मनुष्या बहुधा वैरं स्मरन्तः प्रतिशोधमनैषुः ।

केचित्—ज्ञातं-ज्ञातं ! तव साधुत्वमरे ! निष्ठुराशय ! खलु परोलक्षनाखून् विनाश्य मार्जारः केदारकङ्कणमाधाय तीर्थयात्रायै प्रवृत्तः । इतस्ततो भ्रमितुमशक्तेन वृद्धनखरायुधेन[3] अपराऽऽरण्यानां विप्रतारणाय निरामिषभोजित्वं व्रतमङ्गीकृतम् । रे कपटघटापटो ! अत्यन्तमिष्टशर्कराम्भसा सिक्तोऽप्याम्रायते किमुत निम्बः ? गङ्गास्नातोऽपि गर्दभो जाजायते किं किलाऽऽजानेयः[4] ? हरिचर्मावृतोऽपि पारीन्द्रायते[5] किमुत गोमायुः ? दम्भिन् ! किमु विश्वं वञ्चयसे ? किं दम्भचर्यया मुग्धान् विप्रतारयसे ? जातं तव वैराग्येण, अलं तव तपस्यया, अस्तु तवाऽस्तिक्येन, भवतु च तव संयमभारेण ।

इत्थमनल्पमाक्रोशतां मानवानां गर्हणां, निर्भत्सनां, ताडनां, छिदां, भिदां चाकलय्यार्जुनस्तपोधनः केवलां भगवच्छिक्षां लक्षीकृत्य नहि किञ्चिदपि क्रुध्यति, खिद्यते, त्रस्यति, बिभेत्युद्विजते च, प्रत्युत सहिष्णुतया हृदये विभावयति स्म—"अहो ! अमीषां नागराणां मया भृशमनिष्टमाचरितम्, निर्दयममीषां प्रेयांसो दायादा दिष्टान्तं दर्शिताः महतीं क्षतिं प्रापिताः, पूर्णपाशविकबलेन चोपद्रुताः । अतश्चेदेते मह्यं क्रुध्यन्ति, द्रुह्यन्ति, मामाक्रोशन्ति, ताडयन्ति, मारयन्तीति किमनुचितमाचरन्ति ? उप्तवीजं तु भवत्येवाङ्कुरितम् । बीजानुरूपं हि फलं किमारेकणीयमत्र ? आत्मन् ! हासं-हासं, रोदं-रोदं वा ऋणं त्ववश्य[6]देयमेव, तदानीमानृण्यमिच्छ ना हसित्वैव दातव्यं, नहि सवा-

---

१. विरुद्ध संशनं गालिः
२. स्नपयामासुः
३. वृद्धसिंहेन
४. आजानेयःकुलीनोऽश्वः
५. सिंहायते
६. कृत्येऽवश्यमो लोपः

ष्पक्षेपम्। नूनमेते तु केलिगर्भकोमलान्तःकरणाः सन्ति यन्मदाचीर्णं दुराचाराऽपेक्षया क्षोदिष्टमेव दण्डं व्यापिप्रति[1]। हा ! हा ! मदपराधास्तु रेणुकणैरपि बहुसंख्याकाः, अञ्जनगिरेरप्यसिताः सागरोपमैः कालैरपि दुर्भोग्याः सहस्रधा जीवमारं मारणैरपि च दुरुत्ताराः सन्ति।

अहह ! एते तु मम परममित्राणि वर्तन्ते। सौहार्दं न कथं हृदा श्लाघनीयमेतेषाम्। यतस्तोकेनैव कालेन महामलीमसं मां गर्हणाताडनभेदनैर्निर्मलीकर्त्तुमीहन्ते। भूरितमं मामऽघभारं लघूकर्त्तु[2] यतन्ते। उत, किं नवीनमस्त्यत्र ? मन्थानेन मथितादेव दुग्धाद्धविराविर्भावः। शाणोत्कृष्टा एव मणयो महीपतिमौलिमलंकुर्वते। तीव्राऽऽशुशुक्षणि[3]तापतातप्यामानं हि तपनीयं[4] नैर्मल्यमालिङ्गति। उत्खातादेव भुवस्तलाच्छशिकरनिकरधवलं सलिलमुन्मीलति। अहो ! क्षमैव मुमुक्षूणामलङ्कारः, क्षमा हि भिक्षूणाममोघं शस्त्रम्, क्षमा हि तपसा दुर्बलस्य महाबलम्। अद्भुतम् ! क्षमा तु नाम्नैव सर्वंसहा, क्षमा त्वभिधयैव भूतधात्री, क्षमा तु प्रत्यक्षेण रत्नगर्भा, क्षमा ह्यचला, क्षमा ह्यनन्ता, सर्वं हि चराचरं क्षमाश्रितमेव विराजते। अतोऽहमपि क्षमामाश्रये, भक्त्या सेवे, मुदा पर्युपासे च। पुनः शरीरस्य यातना नहि चिन्मयस्याऽऽत्मनः। शरीरसाहचर्यादिवाहं सुखी दुःखीति जीवोऽनुभवति। वपुःपञ्जरेऽवरुद्धः शकुनिरिवाऽसुमान् कालबिडालेन सन्निधीयते। अपरथा शरीरपञ्चकोन्मुक्तः स्वरूपेणाऽसौ निरुपाधिकः अजराऽमरोऽनन्तः चिद्रूपश्चिदानन्दो नित्यं नन्दतितराम्। देहपञ्जरस्य खलु दौर्बल्ये जायमाने मम का नाम क्षतिः ? परायत्तता हि प्रतिपलं भयावहाः। एते महाशया मां क्षिप्रं स्वाधीनतां दर्शयिष्यन्ति, कथं नैनान् महामान्यानहं सम्मान्ये ? प्रेमपवित्रेणाऽक्ष्णा च निरीक्षे।

इतीव बहुविधं नानाविशदविचारधाराभिरात्मानं, प्रीणयन्, निकृष्टेष्वपि श्रेष्ठत्वमन्विष्यन्, कटुकेऽपि मिष्टत्वमाकर्षन् कोपास्पदेऽपि शान्तिमनुशीलयन्, विषादेऽपि च प्रसादमारोपयन् नगरे परिबभ्राम प्रतिवचनं तु दूरमास्तां भ्रूभङ्गमपि नारोपयति स्म भालस्थले, साम्यमेव परिशीलयति स्म सः।

---

१. बहुवचनम्
२. च्वीप्रत्ययान्तः
३. आशुशुक्षणिरग्निः
४. स्वर्णम्

केचिद् पूर्वाजितमुर्जितमपि मन्तुं विस्मरन्तो वार्त्तमानिकमुनिधर्माऽवलम्बित्वमाद्रियमाणाः प्रेक्षावन्तः सहर्षं प्रणिपेतुः, ससत्कारं भिक्षामपि च ददुस्तत्राप्यसौ मुनिर्नहि वन्दमानानक्षिस्पन्दनैरानन्दयामास, किन्तु रागद्वेषौ व्युदस्यन् "सर्वे भद्राणि पश्यन्तु" इत्येव चित्ते विभावयन्, चेतनस्य वपुषश्च पार्थक्यं वितर्कयन्, धर्मशुक्लादिध्यानमाध्यायंश्च निर्मलं संयमं पालयाञ्चकार ।

अनया पद्धत्या घोरं तपस्यतः, पानीयमाप्नुवन् भक्तमनाप्नुवतः, भक्तमासादयन् सलिलमनासादयतः, भीमान् परीषहान् मर्षयतः, उदारां विचारधारामातन्वतः, आत्मनि पारमात्म्यमनुभावयतः, ध्यानाग्निना भीषणान्यपि पापानि भस्मसात्कुर्वतः, प्रतिपलमात्मनो वैशद्यं च प्रकटयतो महामुनेरर्जुनस्य शनैः शनैर्बाह्या आन्तराश्च सर्वेऽपि क्लेशा नामशेषतामगमन् ।

षाण्मासिकं दीक्षापर्यायं प्रतिपाल्य, प्रान्तेऽर्धमासस्य यावज्जीवमनशनमादृत्य, भावोत्कर्षतया क्षपकश्रेणिमारुह्य, मोहमहामल्लं द्वादशगुणस्थानस्यादौ निपात्य, त्रयोदशगुणस्थानमुखे त्रीण्यवशिष्टानि च घनघात्यानि कर्माणि प्रोन्मूल्य लोकालोकभासुरं समस्तद्रव्यपर्यवसाक्षात्कारदक्षं केवलज्ञानमाससाद । तदनन्तरमेव सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातिनं शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं ध्यायन् मनोवाक्काययोगानां प्राणापानयोश्च क्रमशो निरोधं विधाय ईषत्पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणकालेन समुच्छिन्नक्रियमनिवृत्तिनामकं शुक्लस्य तुर्यं भेदं भजमानः चतुर्दशगुणस्थानमारूढः शैलेशीमनुशील्य शरीरत्रिकं च परिहाय ऋजुश्रेणिं प्राप्तोऽस्पृशद्गतिरेकेन समयेन साकारोपयुक्तो निर्वाणमवाप । अष्टकर्मणां क्षयाल्लब्धैर्ज्ञानदर्शनात्मिकसुखाद्यष्टसिद्धगुणैः शोभितोऽपुनरागतिर्निस्तुषशालिकणवद् अपुनर्जन्माऽक्रियोऽनन्तः सिद्धो बुद्धो मुक्तश्च बभूव ।

इति श्रीचन्दनमुनि-विरचित आर्जुनमालाकारे गद्यकाव्ये-भगवदुपदेशमाकर्ण्य मालिकस्य दीक्षोरीकरणं, साभिग्रहघोरपरीषहसहनं शुभभावनया कर्मवंश-निर्मूलनं—मुक्तिगमनमिति-प्रपञ्चाऽञ्चितः सप्तमः समुच्छ्वासः

काव्यकर्त्तुः प्रशस्तिः

दुःसाध्यमिथ्यात्वगदापहारी, परोपकारप्रवणः पटीयान् ।
अलोलुभोऽथाऽनुभवी यशस्वी, भिषग्वरो भिक्षुविभुर्बभूवान् ॥१॥

शिष्यस्तदीयोऽजनि भारिमालो, गुणालयो राजशशी तृतीयः ।
श्रीजीतमल्लो विदुषां वरेण्यस्तुर्योऽथ जज्ञे मघवा गणेशः ॥२॥

षष्ठोऽभवन्माणिकलालनामा, श्रीडालचन्द्रस्तदनु प्रतापी ।
अथाऽष्टमं पट्टमलंकरिष्ण—श्छोगाङ्गजः कालुगणाधिपोऽभूत ॥३॥

अज्ञा अपि प्राज्ञगतिं प्रयाता, मूका अभूवन् खलु वावदूकाः ।
वन्द्यत्वमाप्ता बत निन्दनीयाः, कालुं कृपालुं सुनिषेवमाणाः ॥४॥

यच्छासने गौरवमापितं तै—र्गुप्तं न तत्साक्षरमानवेषु ।
तुष्येन्न को यद्वरदानरूपं, लब्ध्वा महान्तं तुलसीं गणेन्द्रम् ॥५॥

विद्या विशाला विधिमद् विधान—मोजस्विनी वाग् सफलः प्रयासः ।
विचारसौक्ष्म्यं तुलसीशितुर्मे, कांस्कान् न विस्मापयते गुणाढ्यान् ॥६॥

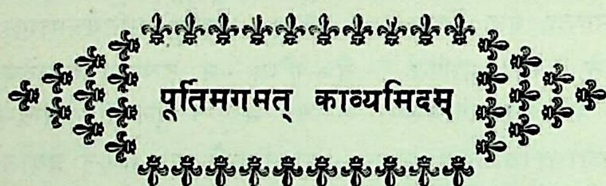
कृतः श्रमोऽयं तदनुग्रहेण, लघीयसां बोधविवृद्धिहेतोः ।
साफल्यमस्मिन विषये मयाप्तं—नवेति विज्ञाः खलु साक्षिणोऽत्र ॥७॥

रसादिदोषा यदि सावकाशा—स्तथापि सुज्ञाः सततं कृतज्ञाः ।
क्षमा विधातुं गुणरूपतस्तान्, न किं मधु क्षारसुमेषु लभ्यम् ॥८॥

*महाव्रताऽभ्राभ्रकरान्वितेऽब्दे, ज्येष्ठे सुमासे बहुले दले च ।
धन्यर्षि-दीपाऽवरजः प्रपूर्य, कृतिं शुभंय्युर्मुनिचन्दनोऽभूत ॥९॥

---

* अंकानां वामतो गतिः इति २००५ संवत्सरे


पूर्तिमगमत् काव्यमिदम्

आर्जुनमालाकारम्

हिन्दी अनुवाद

प्रथम समुच्छ्वास

मंगलाचरण

(१)

शमरस से परिपूर्ण, अर्द्धनिमीलित निद्रारहित-दृष्टि से सम्पन्न, समस्त भय से वर्जित, निश्चल, बद्धपद्मासन वाले जिनेश्वर देवों की ध्यानमुद्रा भव-दावानल से जलते हुए प्राणियों को शान्ति प्रदान करें।

(२)

उत्तर देने में अतिपटु, सूक्ष्मतम तत्त्वों पर एकनिष्ठायुक्त, भय और कोप से वर्जित, नये-नये दृष्टान्त देने में निपुण, जिनवाणी का अनुसरण करने वाली और अनेक संशयों को दूर करने वाली श्रीभिक्षु स्वामी की औत्पातिकी-बुद्धि जय को प्राप्त हो।

(३)

प्रेम से मस्तक पर हाथ फैरते हुए, स्मित-मुद्रा धारण किये हुए 'मूर्ख ! कुछ नहीं जानता' ऐसा मधुर वचन बोलते हुए श्रीकालुगणि मेरी रक्षा करें।

(४)

हृदय रूपी हिमालय से निकली हुई, अत्यन्त स्वच्छ, वैराग्य-जल से पूर्ण, अनैतिकतारूप मल को दूर करने वाली श्री तुलसी गणिराज की यह वाणी-रूपी गंगा पावनता प्रदान करें।

(५)

पण्डितों की यह सूक्ति सुनी जाती है कि "महान् पुरुषों का प्रभाव अचिन्तनीय होता है।" वास्तव में महान् पुरुषों के प्रभाव से जिनकी भावना भावित हो चुकी हो, ऐसे पुरुषों में यह सूक्ति सत्य प्रमाणित होती है।

(६)

इस पृथ्वी में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो महात्माओं के प्रभाव से भव्य पुरुषों के समक्ष प्रकट नहीं हो जाती ? महापुरुषों का प्रभाव कल्पवृक्ष के समान ही होता है !

(७)

निरन्तर हिंसा के कारण जिनके हाथ रुधिर से भरे हुए हैं, ऐसे पापियों के अग्रेसर नृशंस पुरुष भी महापुरुषों का आश्रय पाकर विश्वहितकारी वृत्ति वाले बन जाते हैं।

(८)

इस विषय में अर्जुन मालाकार का दृष्टान्त आगम में प्रसिद्ध है। उसी का अवलम्बन कर अल्प बुद्धि वाला मैं इस काव्य की रचना कर रहा हूँ।

(९)

रचना का परिश्रम विद्वज्जनों के लिए हृदयग्राही होगा या नहीं, यह निर्णय मुझे नहीं करना है, क्योंकि बालक की लीला स्वतन्त्र ही होती है।

कथारम्भ



राजा : जो प्रजा का रंजन करे

भरत क्षेत्र के अन्तर्गत, समस्त देशों में मुकुट के समान मगध जनपद में राजगृह नगर पृथ्वी के मस्तक को भूषित कर रहा था। वह गगनचुम्बी भवनों की श्रेणियों से सुशोभित था। अनेक वाणिज्य-कुशल व्यापारियों के कारण वहाँ का व्यापार खूब बढ़ा-चढ़ा था। वह कुबेर के वैभव को भी मात करने वाले भाग्यशाली धनाढ्यों से परिपूर्ण था। सुदृढ़ प्राकार, द्वार, खाई आदि से सुरक्षित होने के कारण शत्रुओं के भय से रहित था। दूर-दूर देशों से आने वाले क्रय-विक्रयकर्त्ताओं से वहाँ के बाजार खचाखच भरे रहते थे। शुद्ध घृत, चीनी तथा मैदा से विविध प्रकार के सुस्वादु मिष्ठान्न बनाने वाले हलवाईयों की दुकानों से सम्पन्न था। इधर-उधर घूमते हुए फेरी वाले व्यापारियों की ध्वनि से गूंजता रहता था। जैनागम प्रसिद्ध वह राजगृह नगर इस भूतल पर स्वर्ग के समान सुशोभित था।

राजगृह नगर में राजा श्रेणिक का शासन था। वह वासुदेव के समान अखण्डशासन करने वाला, सिंह के समान प्रचण्ड पराक्रम का धनी, सूर्य के समान असह्य प्रतापशाली, चन्द्रमा के समान सौम्य प्रभा से सम्पन्न, बृहस्पति

के समान विद्यावारिधि का पारगामी, पितामह भीष्म के समान दृढ़प्रतिज्ञ, युद्ध में सुमेरू के समान निश्चल चरण वाला, कल्पतरु के समान दानशूर, समुद्र के समान मर्यादायुक्त, श्रीकृष्ण के समान राजनीति में निपुण, कमल के समान निर्मल विचारों से पूर्ण हृदय वाला, प्रभात के समान जागरण-परायण, बासन्ती वायु के समान आह्लादकारी, गंगाप्रवाह के समान निर्मल, पथ में स्थित वृक्ष के समान पथिकों के लिए आश्रयदाता, वायु के समान स्वतन्त्र विचरण करने वाला और हिमालय के समान सीमाकारक था।

राजा श्रेणिक निडर होता हुआ भी पाप से डरता था। दयाशील होने पर भी दुष्टों के दमन में कठोर था। सहनशील होते हुए भी अन्याय को सहन नहीं करता था। गर्वरहित होने पर भी अपने न्याय पर गर्व रखता था। शूरवीर होने पर भी पर-दुःखकातर था। प्रजा-पति होते हुए भी प्रजा-सेवक था। सुखशील होने पर भी परिश्रमी था। कोप और प्रसाद में स्वाधीन होता हुआ भी राजनीति के अधीन था। उसके विषय में सभी ऐसा अनुभव करते थे।

राजा श्रेणिक अपना कर्त्तव्य समझ कर प्रजा पर अनुशासन करता था, उद्धतता से नहीं। प्रजा से कर और दण्ड लेकर वह अपनी उपभोग-सामग्री की वृद्धि नहीं करता था, किन्तु प्रजा के उपकार में ही उसका व्यय करता था। अनेक बार वेश बदल कर वह तिराहों, चौराहों और जहाँ हाथ न दिखाई दे ऐसी अन्धकारमयी संकड़ी गलियों में भी चुपचाप घूमता और अपनी अपकीर्ति को सुनने के लिए उद्यत रहता था। अपनी भूरि-भूरि प्रशंसा सुनकर वह फूल नहीं जाता था, वरन् अपने को छिपाता हुआ किसी बहाने से अपनी किसी त्रुटि को प्रकट करता हुआ प्रजा से वार्तालाप करता था। किसी के मुख से अपना दोष सुनकर भी क्रुद्ध नहीं होता था, किन्तु उसके रहस्य की खोज करने में तत्परता प्रदर्शित करता था।

समय-समय पर समूह में भाषण करता हुआ वह कहा करता "प्रजा को अनुकूल बनाकर ही राजा कुशलपूर्वक चिरकाल तक आनन्द पा सकता है, न कि प्रजा को प्रतिकूल बनाकर। प्रजा का अभिमत शासन सदा बढ़ता है, न कि प्रजा द्वारा तिरस्कृत केवल राजा का मनचाहा शासन। प्रजा ही राजा का जीवन है, प्रजा ही राज्य का मूल है, प्रजा ही राजा को 'इन्द्र, नाथ' आदि सम्मान-सूचक शब्दों से पुकारती है। क्या स्मृति में नहीं है कि प्रथम पृथ्वी-पति आदीश्वर श्रीऋषभदेव को विनीता-निवासियों में ही योग्य समझ कर निर्वाचित किया था। कौन नहीं जानता कि मांसलोलुप एवं शिशुभक्षण करने

में तत्पर 'सौदास' को प्रजा ने ही अयोध्या से एकदम निकाल दिया था ? अधिक क्या कहा जाय, प्रजा पालन ही राजा का धर्म है, न कि प्रजा का शोषण ! राजा की तनिक-सी असावधानी से ही राष्ट्र में अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ के प्रजाजनों को अनेक उपद्रवों का शिकार होना पड़ता है। उनके मन संशयशील बने रहते हैं और मनोरथ विलीन हो जाते हैं। अतएव राजा को सदा सावधान रहना चाहिए।"

नीतिनिपुण भी यही कहते हैं—"राजा धर्म परायण होता है, तो प्रजा के लिए सभी दिशाएँ कामधेनु बन जाती हैं, निःसंशय-मनुष्यों के मन प्रमोदमय रहते हैं। चारों वर्ण स्वाधीनता का अनुभव करते हैं। ऋतुएँ अपने समय का अतिक्रमण नहीं करती। श्रेष्ठ राजा की भूमि शस्य-श्यामला होकर शोभित होती है। घर-घर में उत्तम गौएँ शोभायमान होती हैं। गृहस्थों के आँगन पुत्र-पौत्रों से भरे रहते हैं। लोग दूसरों का द्रव्य भी लेने की चेष्टा नहीं करते। परकीय स्त्रियों को अपनी माता के समान मानते हैं। प्रशस्त-चारित्र वाले मुनियों का अच्छा सम्मान करते हैं। छोटे, बड़ों के वचन-प्राकार को अनुल्लंघनीय मानते हैं। वहाँ भाई-भाई में निर्मल प्रेम होता है, कुल बहुएँ सासू के साथ कलह नहीं करतीं। घर पर आये अतिथि का सत्कार किया जाता है। वहाँ चोर, परस्त्री-लम्पट, ठग और पाकेटमारों को कोई अवकाश नहीं होता।" —इत्यादि सुभाषितों से वह राजा प्रजा को सन्तुष्ट करता था।

भम्भासार-श्रेणिक, राजा चौंतीस अतिशयों से विशिष्ट, वाणी के पैंतीस गुणों से विशद व्याख्यान करने वाले, मिथ्यात्त्व, अज्ञान आदि अष्टादश दोषों से रहित, मोह-महामल्ल को पछाड़ कर कैवल्य-लक्ष्मी प्राप्त करने वाले, सुरेन्द्रों असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रों द्वारा वन्दित चरण-कमलों वाले, इन्द्रभूति आदि श्रेष्ठ श्रमणों तथा चन्दनबाला आदि उत्तम श्रमणियों द्वारा सभक्ति पूजित श्री वर्द्धमान स्वामी का शिष्य था। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का वेत्ता, छह द्रव्यों का गम्भीर रहस्य जानने वाला, व्रत-अव्रत का विवेचन करने वाला, सावद्य-निरवद्य उपादान भेद से अनुकम्पा के दो भेदों का भली-भांति ज्ञाता तथा सदा विपरीत दिशा वाले संसार और मोक्ष के मार्ग को पृथक्-पृथक् समझने वाला था। पात्र-अपात्र का विवेचक, सर्प और गाय के दृष्टान्त से दान का विशद विवेचन करने वाला और निर्जरा के पीछे पुण्योपचय मानने वाला था। नय, निक्षेप और प्रमाण रूपी लहरों से दोलयमान स्याद्वाद-समुद्र का मन्थन करने वाला था। वह चतुर्थ गुणस्थानस्थित श्रावक था। वह देवाधिदेव का ही पूजक था, राग-द्वेष रूपी पंक से लिप्त, निग्रह-अनुग्रह करने वाले, पृथ्वी का भार

हरने के लिए बार-बार अवतार लेने वाले एवं सदैव पत्नी से युक्त ऐसे अन्ययूथिक देवों का नहीं। छत्तीस गुणों के द्वारा अवर्णनीय गौरवशाली, बाह्य एवं आन्तर-ग्रन्थि से रहित, हृदय के अन्धकार का निवारण करने में सूर्यमण्डल के समान, संसार सागर में डूबने वाले जीवों के लिए नौका के समान एवं अत्यन्त पवित्र आचार वाले गुरु की ही सेवा करता था।

अरिहन्त के मुखारविन्द से निःसृत, अनेक जन्म-जन्मान्तरों से संचित पाप-समूह को नष्ट करने में समर्थ एवं भव-दावानल में जलते हुए प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ धर्म पर उसका अटल विश्वास था। वह मानता था कि—"धर्म अशरणों के लिए शरण है। बान्धवहीनों का बन्धु है। दरिद्रों के लिए धन है। भटकते हुओं के लिए आश्रय है। दुःखाकुलों के लिए सुख रूप है। असहायों का सहाय, भयभीतों को अभयदाता, निर्बलों का बल, म्रियमाणों के लिए अमृत मार्ग नहीं जानने वालों के लिए राजपथ, रोगियों के लिए औषध और शून्य-हृदय वालों के लिए मित्र के समान है। परम मंगलमय, अहिंसामय, विनय-मूलक, त्यागप्रधान, जिनाज्ञा के अन्तर्गत, संवर-निर्जरा रूप, ध्रुव, सर्वहितकर तथा दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण करने में समर्थ है।"

राजा श्रेणिक परम अमूल्य, आत्मा के लिए हितकर, परब्रह्मसाधक रत्न-त्रय की उत्कृष्ट भक्ति से आराधना करता था। शंका-कांक्षा आदि दोषों से अदूषित तथा शम-संवेग आदि लक्षणों से भूषित क्षायिक सम्यक्त्व का परिपालन करता था। धर्मानुराग उसके हाड़-मांस और मज्जा तक में व्याप्त था। सुदृढ़ विश्वास वाले उस राजा को देवगण भी, स्वप्न में भी, धर्म से विचलित करने में समर्थ नहीं थे।

महारानी चिल्लना राजा के अन्तःपुर को उसी प्रकार सुशोभित कर रही थी, जैसे इन्द्र के अन्तःपुर को शची, चन्द्रमा के अन्तःपुर को रोहिणी, कामदेव के अन्तःपुर को रति और चक्रवर्ती के अन्तःपुर को श्रीदेवी सुशोभित करती है।

महारानी चिल्लना अपने लोकोत्तर ललित-लावण्य एवं सौन्दर्य से विल-सित विस्तीर्ण तारुण्य के द्वारा कात्यायनी का (अर्द्धवृद्धा होने से) उपहास करती थी। श्रेष्ठ सती एवं पतिव्रतधर्मपरायणा वह रानी कंटकाकीर्ण पद वाली चंचला लक्ष्मी का भी पराभव करती थी। वह चौसठ कलाओं में कुशल और विविध काव्यालंकारों में पारंगत थी। मनोरम सूक्तियों से उसका मुखार-विन्द मुखरित रहता था। इतिहास, नाटक, पुराण आदि का भेद समझने वाली वह रानी सरस्वती से भी वाद-विवाद करने में समर्थ थी। महाराज चेटक की पुत्री

होने से परमोत्तम जैनधर्म को मानने वाली एवं श्री महावीर स्वामी की शिष्या थी। उसने नव तत्वों के रहस्य को भली-भाँति हृदयंगम कर लिया था, अतः निश्चल चित्त वाली होकर वह परमश्रद्धा से सर्वोत्तम जैनदर्शन की उपासिका थी। पहले उसके पति-श्रेणिक ने अनेक उपसर्ग किये थे, असत्य-जाल में फांसने की चेष्टा की थी। प्रतिदिन अनेक कठिन समस्याएँ उसके सामने प्रस्तुत की थीं। बनावटी जैनमुनि की गर्हा द्वारा उसे घृणास्पद बनाने की भी चेष्टा की थी। अनेक कपट-घटनाओं द्वारा छलने का प्रयास किया था। फिर भी जैनदर्शन से उसका एक रोम भी चलायमान नहीं हुआ। जैन विचारधारा के प्रति उसके हृदय में किञ्चित्मात्र भी संशय नहीं हुआ। यही नहीं, वह अपने पति को भी जैनमार्ग अंगीकार कराने का प्रयत्न करती रही। वह मिथ्यात्व आदि शत्रु समूह को ज्ञान रूपी चन्द्रहास खड्ग से नष्ट करने के लिए भयानक चण्डी का रूप दिखलाती रही। वह न्यायमार्ग पर निःसंकोच चली और कु-मुनियों के चित्त को उनकी विचारधारा के साथ कम्पित करती रही। अन्त में, सदाचार की साक्षात्मूर्ति चिल्लना ने अपने पति को पूर्ण रूप से जैनमार्ग का पथिक बना लिया और वह विजयी हुई।

दाम्पत्यप्रेम से, औचित्य का उल्लंघन न करते हुए जगत् के समक्ष उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हुए, एवं राजनीति में कुशल होते हुए भी धर्म की ओर एकमात्र लक्ष्य रखते हुए वे दम्पति दूसरे सीता-राम जैसे प्रतीत होते थे।

राजा श्रेणिक का मंत्री अभयकुमार था। मानो विधाता ने बुद्धि के परमाणुओं से ही उसका निर्माण किया था अथवा पिण्डीभूत विवेक ने ही मनुष्य की आकृति धारण करली थी या जगत् की विचित्रता को देखने की इच्छा से वृहस्पति ने धरातल पर अवतार ग्रहण किया था। दो हाथ वाला होते हुए भी वह मार्ग-दर्शन कराने में सूर्य के समान सहस्र-कर था। दो चक्षु वाला होते हुए भी वह सहस्राक्ष (इन्द्र) के सदृश दूरदर्शी था। एक सिर वाला होने पर भी वह परामर्श देने में सहस्रशीर्षा (शेषनाग) के समान कुशल था। चेहरे के हाव-भाव और हाथों के अभिनय से वह दूसरों के मन की बात भली-भाँति ताड़ लेता था। प्रतिध्वनि मात्र से दूसरों के विचार का रहस्य—निष्कर्ष निकालने में निपुण था। आयवृद्धि, व्यय के औचित्य, स्वामी के संरक्षण और राज्यतन्त्र के पोषण के विचार में ही डूबा रहता था। साम, दाम, दण्ड और भेदनीति में कुशल था। राज्यकोष की वृद्धि करता हुआ भी वह प्रजा के रक्त का शोषण नहीं करता था। प्रियवादी होने से हितकर बात कहता हुआ भी चाटुकारिता का आश्रय नहीं लेता था। स्वार्थान्ध होकर वह राजा का किञ्चित्मात्र भी

अनर्थ सहन नहीं करता। इस प्रकार नन्दादेवी का आत्मज अभयकुमार परम-धार्मिक, पवित्र आचार वाला, अत्यन्त जनबल्लभ एवं निर्लोभ था।

अभयकुमार के विलक्षण बुद्धिवैभव को देखकर पड़ौसी राजा चतुरंगिनी सेना से सम्पन्न होने पर भी सदा श्रेणिक राजा से डरते रहते थे। उसने चार प्रकार की बुद्धि के द्वारा ऐसे अद्भुत, स्वप्न में भी असम्भव, कार्य सम्पन्न किए थे, जिनसे विरोधियों के सैंकड़ों मनोरथ बादलों की तरह विलीन हो गए थे। उसने विरोधियों के हृदय में ऐसी चकाचौंध पैदा कर दी थी कि जब तक यह असाधारण बुद्धि का धनी, सूक्ष्मदर्शी अभयकुमार मंत्रीपद पर सानन्द समासीन है, तब तक इन्द्र के समान शक्तिशाली शत्रु भी इस राज्य को नहीं जीत सकते।

भम्भासार (श्रेणिक) भी इस प्रकार के पुत्र को मंत्री के रूप में पाकर अपने शासन को, सुदृढ़ स्तम्भों पर अवस्थित महल की भाँति, निबिड प्रकाण्ड वाले वृक्ष की भाँति और मेढी वाले खले की भाँति सुदृढ़ समझता था। राजा के चित्त में कदाचित् कोई चिन्ता उत्पन्न होती तो अभयकुमार के समक्ष प्रस्तुत होते ही उसका प्रतीकार हो जाता था। आज भी ऐसे अनेक उदाहरण सुने जाते है।

राजगृह के सभी सधन और निर्धन नागरिक नन्दा-सुत अभयकुमार का अभिनन्दन करते, जैसे महल में दीपक का, सरोवर में जल का, शरीर में चैतन्य का, हृदय में करुणा का, दूध में घी का, पठित में विवेक का और अग्नि में उष्णता का अभिनन्दन किया जाता है। उन्हें अभयकुमार जैसे महाबुद्धिशाली मन्त्री पर गर्व था। वे अपने भाग्य की प्रसंशा करते थे। अथवा सत्पुरुषों का सम्मिलन किसे आनन्द प्रदान नहीं करता?

अभिप्राय यह है कि श्रेणिक द्वारा सनाथ और अभयकुमार द्वारा सुरक्षित किए हुए उस राज्य में प्रजा मृत्युलोक में भी सदा स्वर्गलोक के समान सुख का अनुभव कर रही थी।

———

दूसरा समुच्छ्वास

(१) यौवन (२) धन की प्राप्ति (३) प्रभुता और (४) अविवेक, इनमें से एक भी अनर्थकारी है। यदि चारों ही एकत्र हो जाएँ तो फिर कहना ही क्या ? — (नीति)

इस परिवर्तनशील संसार में कोई भी पदार्थ एकरूप नहीं रहता। जगत् शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ ही है "गमन करने वाला जगत्।" इससे यही ध्वनि निकलती है कि जहाँ अभी अखण्ड सुख मालूम पड़ता है, वहाँ कुछ ही समय के बाद अवश्य दुःख होने वाला है। जहाँ अभी मंगलमय शब्द दिग्मण्डल को मुखरित कर रहे हैं, वहाँ किसी समय कर्ण-कटु कर्कश आक्रन्द-शब्द भी सुनाई दे सकते हैं। जहाँ अभी नव-मैत्री रूप कमल परम प्रीति-सौरभ फैला रहा है, वहाँ भी विधि, विस्तीर्ण वैर-रूप वड़वानल को दिखला देता है। जो धनिक लोग अपनी सम्पत्ति से कुबेर को भी परास्त कर रहे हैं, वे कुछ क्षणों के पश्चात् धन नाश होने से, भूख से क्षीणकाय होकर दूसरों के मुँह ताकते दिखाई पड़ते हैं। जो गर्व के पर्वत अहंकार से ऊर्ध्व ग्रीवा वाले, जगत को तृणवत् समझने वाले, सुनी अनसुनी करने वाले सानन्द खेलते देखे गये, वे ही अब नतमस्तक, निरभिमान, भाग्य की विचित्रता से पीड़ित, मलिनवदन, धूलिधूसरित चरण वालों से भी, अर्थात् जैसे-तैसे पुरुषों से भी पराभव पाते देखे जाते हैं। ओह ! एक जैसा समय न कभी बर्तता है, और न ही कभी कार्य करता है।

सर्वसुखमय श्रेणिक के साम्राज्य को भयानक भावीरेखा किस प्रकार उपद्रवरूप बाढ़ में बहा देती है ? अग्नि की एक साधारण-सी चिनगारी किस प्रकार खाण्डववन-दहन का ताण्डव नृत्य दिखाती है ? कैसे छोटा-सा भी पाप का बीज लाखों विष-पुष्पों को पैदा करता है ? यह सब सावधान होकर सुनिए।

राजगृह नगर के ईशानकोण में गुणशील नामक उद्यान था। वह साक्षात् नन्दनवन के सदृश था। नाना प्रकार के कदम्ब, नीम, जम्बीर, आम, ताल, आदि

वृक्षों से श्यामल छाया वाला था। बहुत सुन्दर पत्र-पुष्प फलों वाले वृक्षों से मनोरम था। जहाँ वृक्षसमूहों को सिंचन करने वाली जल की नालियां पौधों की क्यारियों को शीतल जल से भर रही थीं। नाना प्रकार के मयूर, शुक-सारिका, कोकिल आदि पक्षी मानों उस उद्यान का गुणगान गाया करते थे। प्रस्फुटित कमल के सौरभ से सुरभित, चन्द्र के किरण जाल के सदृश श्वेत, मिष्ट जल से परिपूर्ण तथा विशिष्ट प्रस्तरों से सुघटित तट वाले गोलाकार तालाबों से उसके चतुष्पथ सुशोभित थे। अपने सौन्दर्य से काम को जीतने वाले सपत्नीक धनिककुमार उसकी दूब पर घूमा करते थे। कठिन पाठ रटने में पटु, परीक्षार्थी छात्र-वर्ग वृक्षों के नीचे बैठते थे। वैद्यों के निर्देशानुसार कितने ही रोगी शुद्ध वायु-सेवनार्थ वहां घूमते थे और कहीं-कहीं लता-निकुंजों में किसी एक पुद्गल पर अपनी अधखुली दृष्टि जमाये तपस्वी जन पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान में मग्न होकर विराजमान थे।

उस उद्यान के अन्तर्गत एक पुष्पवाटिका—फूलों की वाड़ी थी। वह विभिन्न वर्णों वाले गुलाब के फूलों के समूह के बहाने विश्ववैचित्री को प्रगट करती थी। मल्लिका, चमेली, जूही, आदि पुष्पों द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तु-स्थिति प्रदर्शित करती थी, और चम्पकवृक्ष के सुगन्धित स्वर्ण-वर्ण वाले फूलों को धारण करती हुई जम्बू वृक्ष के सौरभहीन स्वर्ण-पुष्प समूह का उपहास करती थी। तथा हवा के साथ चित्ताकर्षक सुन्दर सुरभि चारों दिशाओं में प्रेषित करती एवं दूर से आने वाले पथिकों को, मानो प्रतिपल आह्वान कर रही थी। भ्रमरों के मंजु गुँजारव से वह लोगों के सामने अपनी मधुदान-दक्षता को जताती थी, और अर्ध-विकसित कलियों के समूह से मानो शैशव की निर्मलता प्रकट करती थी। वह पुष्पवाटिका कामदेवरूप सिंह की गुफा जैसी सघन निकुँजों वाली थी। अतीव रमणीय होने से नगरनिवासियों की उत्कृष्ट विहार-भूमि थी।

पुष्पवाटिका के एक कोने में 'मुद्गरपाणि' नाम से विख्यात यक्ष का मन्दिर था। वह फहराते हुए उन्नत ध्वजादण्ड से आकाश के साथ स्पर्धा करता जान पड़ता था। अत्यन्त चतुर कारीगरों के द्वारा निर्मित होने से विश्वकर्मा के निर्माण की भी जैसे अवहेलना कर रहा हो, तथा विचित्र मणिरत्नों से जड़ा हुआ प्रांगण होने से मानो देव गृहांगण को प्रत्यक्ष दिखा रहा हो। उसकी दीवारें घिस कर ऐसी चमकदार बनाई गई थीं कि वह भरत महाराज के आदर्श-भवन की स्मृति दिलाता था। वह यक्षमन्दिर नागरिकों द्वारा परम श्रद्धा से पूजनीय था और एक हजार पल वजन वाला मुद्गर हाथ में धारण करने से मुद्गरपाणि यक्ष का मन्दिर कहलाता था।

उसी मन्दिर की शोभा बढ़ाने वाली, विशिष्ट काष्ठ से निर्मित, सुन्दर वस्त्रों से भूषित, बहुमूल्य अलंकारधारिणी प्रभावशालिनी होने से महान् समारोह के साथ प्रतिष्ठापित, अनेक ऐहिक सुख के इच्छुक लोगों द्वारा अर्चित, दूर-दूर से आने वाले यात्रियों के लिए दर्शनीय मुखारविंद वाली, पूर्ण-मनोरथ होने वाले धनिकों द्वारा प्रदत्त धन से भरपूर भण्डार वाली, अप्रतिम शक्ति वाले 'मुदगरपाणि यक्ष' की प्रतिमा थी।

वहाँ अर्जुन नामक एक माली रहता था जो उद्यान की रक्षा किया करता। वह छः ही ऋतु के फल लगाने में विचक्षण, भूमि को ऊर्वरा बनाने के लिए गोबर काण्डों आदि खाद देने में चतुर, यथासमय पानी सींचने में निपुण, वृक्षों, फलों एवं पुष्पों के रोगों का जानकार, वनस्पतियों का संयोग करने में निपुण, नाना प्रकार से पौधों की कटाई करने में कोविद, पक्षियों के उपद्रव को निवारण करने में तत्पर, शशक, मृग, शृगाल आदि जीव जन्तुओं को रोकने में उद्यत और अपने कार्य में सलंग्न रहता था। वह स्वभाव से सीधा और भोला था।

बन्धुमती उसकी अत्यन्त प्रिया पत्नी थी। वह केले के समान कोमल शरीर वाली, कमलिनी की तरह प्रसन्न वदन वाली, अलंकार रहित होते हुए भी चन्द्रकला के समान सहज सौन्दर्यवाली, बाह्य हाव-भाव-विलास आदि को न जानती हुई भी बाल-लीला की तरह मनहरने वाली, किसी प्रकार की सजावट के बिना भी कामाग्नि-पीडित युवकों को छाया की तरह अभीष्ट, मेघ के साथ बिजली की तरह पति का अनुगमन करने वाली, सुई की तरह सरल प्रकृति वाली, तारा-श्रेणी के समान प्रकट आचरण वाली एवं घड़ी की तरह सामयिक कार्यों का अतिक्रमण न करने वाली थी।

अर्जुन माली बन्धुमती के साथ प्रतिदिन पुष्पवाटिका से फूलों को चुनता और उसके बाद अनेक पूर्वज-परम्परा से पूजित मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा को सुवासित पुष्पों से भक्तिपूर्वक अनेक प्रकार से पूजता था। अनेक गौरव-सूचक शब्दों से उसका अभिवादन करता और हार्दिक श्रद्धा से प्रणाम करता था। उसके बाद कुछ बिखरे हुए, कुछ चतुराई के साथ गूंथे हुए, कुछ गुलदस्तों के रूप में, कुछ हार या अर्धहार के रूप में फूलों को नगर में ले जाकर बेचता था। इस तरह वह अपना गृहस्थ-जीवन सुख से चलाता था। आय के अनुसार व्यय करता हुआ वह सारे कार्य स्वतन्त्रता से चलाता था।

उसी नगर में 'ललित' नाम के गोष्ठी-पुरुष थे। वे किसी बड़े राजकार्य को सम्पादन करने के कारण राजा द्वारा निर्भय अर्थात् अदण्डनीय घोषित किये गये थे। उस अभयदान की बदौलत वे अत्यन्त उच्छृंखल बन गए थे। धनाढ्य

घर में जन्म लेने के कारण उन्हें व्यापार आदि की चिन्ता नहीं थी। वे पिण्डीभूत कलह के समान, कलि-पुरुष के अवयवों के तुल्य, अधर्मराज के दूत सरीखे, निर्लज्जता के विलास जैसे, दुर्व्यसनों के दास समान, कालुष्य समुद्र की तरंगों के सदृश, दुष्प्रवृत्ति के परिणाम सरीखे और भावी उत्पात-वृक्ष के अंकुर समान थे। वे छह युवक स्वच्छन्द विचरण करते थे।

उन्होंने जहाँ जाना चाहा वहीं गए, जो करना चाहा वही किया। जिसे जिसे पाना चाहा उसे पाया। जो खाना चाहा वह खाया। जो पीना चाहा वह पीया। जो देखना चाहा वह देखा। जो छीनना चाहा वह छीना। अहो! जवानी का पागलपन मनुष्य को बुढ़ापे के बिना भी अन्धा और बहरा बना देता है। न्याय मार्ग से अति दूर और अविवेक-पथ से अति समीप लाता हुआ दुर्मद दानवीय वृत्ति को बढ़ावा देता है, और आत्मीय गुण समूह का ह्रास कर देता है। हाय! हाय! अगर उस यौवन के साथ प्रचुर अर्थ का योग हो गया तब तो मनुष्य समुद्र को भी चुल्लू भर समझने लगता है। विस्तृत पृथ्वी को भी दो पैर जितनी मान लेता है। अनन्त आकाश भी उसे एक टोपसी के समान प्रतीत होने लगता है। मनुष्य के अत्यल्पकालिक जीवन को भी परार्द्ध (एक उत्कृष्ट काल की संख्या) से भी अधिक समझने लगता है। अहो धनसहित यौवन की विपरीतता कैसी अद्भुत होती है? विचार पूर्वक प्रवर्तन करने वाले पुरुष पर सुस्ती का आरोप, गौरव के योग्य गुरुओं के प्रति उपहास की प्रवृत्ति, धार्मिक पुरुषों के प्रति मिथ्याचार की कल्पना, सत्संग को समय की व्यर्थ बर्बादी समझना, सूत्र सिद्धान्तों पर विश्वास की अन्धश्रद्धालुता बताना, कुल-क्रमागत कर्त्तव्य में रूढ़ि का आरोप करना, उचित उपदेश देने पर कठोर कुतर्क करना, धर्म-कार्य की प्रेरणा देने पर 'बस-बस रहने दो' कहना।

और यदि धन तथा जवानी के साथ प्रभुता-अधिकार का भी समावेश हो जाय तब तो मनुष्य बिच्छू-काटे बन्दर की तरह, मद पीये हुए हाथी के समान, अवकर (उकरड़े) पर खड़े ऊँट के तुल्य, मिश्री का पानी पिए सन्निपातरोगी के सदृश बन जाता है। भूमण्डल में कौन-सा कार्य है जो वह नहीं करना चाहता? अविवेकी फिर तो पृथ्वी पर पैर भी रखना नहीं चाहता। हाय! तुच्छता प्रायः भयंकर होती है। बिन्दु-मात्र विष वाला बिच्छू पूंछ को ऊँचा करता हुआ क्या जगत् को भयभ्रान्त नहीं बनाता? क्या अन्तर में डरपोक कुत्ता भौंककर यष्टिहीन पथिकों को नहीं डराता? अपूर्ण घड़ा पानी उछालता हुआ लाने वाले के कपड़ों को नहीं भिगोता? शरत्काल के शून्य-प्रायः मेघ क्या बहुत नहीं गरजते?

नाश की पहली अवस्था बुद्धि-विपर्यय है। बुझने वाला प्रदीप बुझने से कुछ पहले एक बार चमकता है।

वास्तव में वस्तुओं का परिपाक-काल ही उनका अन्तिम क्षण होता है। पके हुए पत्ते क्या जमीन पर नहीं गिरते ? विज्ञ-वैद्य पकने पर ही व्रण का छेदन करते हैं ! घड़ा भर जाने पर ही पानी में डूबता है। प्रकृति कदापि सीमा का उल्लंघन सह नहीं सकती। उसका प्रतीकार स्वयं शीघ्र हो जाता है।

खैर, उन छः ही पुरुषों ने अनेकों निरपराध व्यक्तियों को पीड़ित किया, अनेक निर्बलों को लूटा, और अनेक कुल-वधुओं का सतीत्व नष्ट किया। उनके कुकृत्यों को हृदय से नागरिकगण बुरा समझते हुए भी राजा के प्रति बहुमान के कारण सब कुछ सहते रहे। परिणाम यह हुआ कि उपचार के द्वारा न मिटाई गई रोग-परम्परा की तरह उनकी उद्दण्डता खूब बढ़ती गई। नीतिज्ञों की उक्ति युक्तियुक्त है—"अपराधों का सहना भी अपराध है, अन्याय करने वालों की उपेक्षा अन्याय पीड़ितों पर अत्याचार है।" व्यक्तितन्त्र राज्य में ऐसे दोष प्रायः होते ही हैं। हाँ, प्रजातन्त्र में ऐसे दोषों का होना प्रायः सम्भव नहीं है। यद्यपि श्रेणिक राजा ने ऐसा हुक्म नहीं दिया था कि "ये कुछ भी अनुचित करें इन्हें दण्ड नहीं दिया जायगा" फिर भी वे अपने अहंकार से गर्हित-आचरण करते रहे और बार-बार अनधिकार चेष्टा भी।

एक दिन कमलकोशों के साथ निद्रा-ग्रस्त जनों को जाग्रत करता हुआ, जगत्व्यापी अन्धकार को चान्दनी के साथ तिरोहित करता हुआ, चोरों के साहस को चकवों के शोक के साथ निरस्त करता हुआ, चन्द्रमा के साथ दीपों की श्रेणी को अकिंचित्कर बनाता हुआ, विद्यमान तारागण को घूक-समूह के साथ अदृष्ट बनाता हुआ, पहरेदारों को कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) वन के साथ सुलाता हुआ और जगत् को निर्भय बनाता हुआ सूर्य प्राचीन दिशा में उदित हुआ।

स्वर्ण-वर्ण वाली, चंचल, फैलती हुई सूर्य की किरणों को देखकर पक्षी-समूह सानन्द ऊँचे-नीचे आकाश में उड़ने लगे। पथिक अपने-अपने गंतव्य पथ पर चलने लगे। कुछ व्यक्ति अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। जैन मुनि प्रतिक्रमण को पूर्ण करके प्रति लेखनादि कृत्य करने लगे। श्रावक जन सावधान होकर शुद्ध सामायिक करने लगे। कुछ मौन व्रतधारी व्यक्ति नमस्कार महामंत्र की माला फैरने लगे। अबोध बालक दूध मांगते हुए मां के चारों तरफ खेलने लगे। स्तनपायी शिशु माता का अंचल पकड़ कर किसी वस्तु को मांगते हुए रोने लगे। बगल में पुस्तकें दबा कर जल्दी-जल्दी पैर उठाते हुए

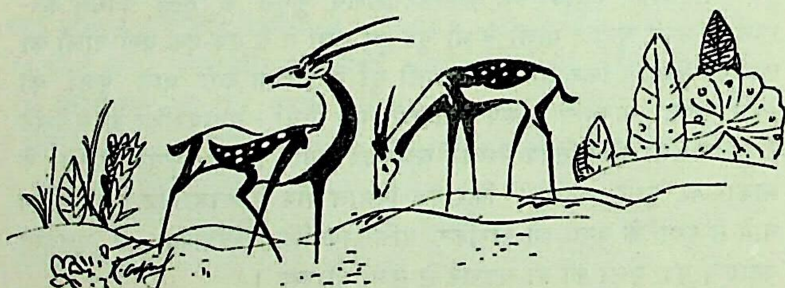
कुछ बालक विद्यालय जाने लगे। कुछ बच्चे खेल में तत्पर होते हुए विद्यालय जाने से दिल चुराने लगे। कतिपय दूधमुँहे सुस्त बच्चों को उनकी माताएँ "उठ-उठ, जाग-जाग, देख, सूर्य तेरे सिर पर आ गया है" ऐसे सुधा-सदृश वचनों से जगाने लगीं और दुकानदार अपनी-अपनी दुकानों को साफ करने लगे।

अहा ! एक सूर्य कितने कार्य करता है ! कितने व्यक्तियों को मार्गदर्शन कराता है ! कितने खेत-उद्यानों को ताप से बढ़ाता है ! कितने कर्दम-क्लिन्न पथों को सुखाता है ! सूर्य की परोपकार वृत्ति अनोखी है ! इसीलिए सूर्य को जगत्-चक्षु, जगत्-बांधव आदि गौरवयुक्त नामों से दुनिया पुकारती है।

अर्जुनमाली भी उदीयमान स्वर्ण-वर्ण सूर्य को देखकर सोचने लगा "अरे ! याद आया, आज उत्सव का दिन है। अहो ! यह सूर्य कैसे-कैसे नये-नये महोत्सवमय दिन दुनिया के सामने उपस्थित करता है ? सूर्य के सहारे कैसे-कैसे सुन्दर अवसर लोगों को प्राप्त होते हैं। पर थोड़े ही व्यक्ति समय को सफल बना सकते हैं। विज्ञजन ही समय का मूल्य समझते हैं, मूर्ख तो समय बिताने के लिए कोई बिना प्रयोजन का खेल शुरू कर देते हैं। मुझे भी आज शीघ्रता करनी चाहिए और फुलवाड़ी में जाकर फूलों को चुनना चाहिए। वरना यह अवसर हाथ से निकल जायेगा। फिर उसे पकड़ने का कोई उपाय नहीं है।" ऐसा विचार कर माली अर्जुन शीघ्र शौच-स्नानादि कृत्यों को समाप्त कर सधर्मिणी बन्धुमती के साथ उद्यान की तरफ चल पड़ा। 'आज मेरे फूलों की बहुत बिक्री होगी', ऐसा विचार कर उसी क्षण पुष्पवाटिका में पहुँचा। बन्धुमती भी, अपने किसलय कोमल हाथों से अपने मस्तक के स्निग्ध-श्यामल केशों से स्पर्धा करने वाले एवं मकरंद का आस्वादन करने वाले भ्रमरों को भगाती हुई चतुराई से कमलनालों को मोड़कर पुष्पों को वांस की पिटारी में चुनकर रखने लगी। 'अपनी जन्मभूमि को त्याग कर भी हम धनाढ्यों के मस्तक पर और लीलावती स्त्रियों के कंठ में निवास करेंगी" मानो ऐसा सोचकर हंसती हुई अर्धविकसित कलियों को, विकस्वर शिरीष कुसुम के तुल्य कोमल कर-स्पर्श से उसने चुना। माली ने भी चुने हुए फूलों में से एक-एक वर्ण वालों का एकत्रित किया। फिर लम्बे धागे वाली सुई से विभिन्न वर्ण वाले फूलों को लेकर चतुराई से माला के रूप में तत्काल गूँथ लिया। सुगन्धरहित केवल देखने में सुन्दर फूलों की कतिपय मालायें अलग ही बनाई। कई फूलों के गेंद के आकार के गुच्छे बनाये। फिर एक विशाल पात्र में कपड़ा बिछाकर महीन धागे से पुष्पों के वृन्तों को पिरोकर दक्षिणावर्तादि विचित्राकार से गुलदस्ते बनाए। कुछ फूलों को तो चतुराई से खुला ही रखा।

इस प्रकार वह अपने कार्य को समाप्त कर यक्ष-पूजन के निमित्त जब पत्नी सहित उद्यान की तरफ बढ़ने लगा तो सूर्य-सांड की तरह स्वच्छन्द भटकते हुए, पिशाच की तरह अट्टहास करते हुए, भूताविष्ट की भांति बुरी चेष्टाएँ करते हुए, वायु रोगी के समान प्रलाप करते हुए, कभी दौड़ते और कभी परस्पर कंधों पर हाथ डालते हुए तूफान में आए जहाजों की तरह काल के द्वारा आकृष्ट वे छहों पुरुष उस उद्यान में यक्षमन्दिर के पास आ पहुँचे।

———



तृतीय समुच्छ्वास

मदान्ध मनुष्य उन्मत्त हाथी की भांति क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालता ?
—सूक्ति मुक्तावलि ।

इधर खिले हुए फूलों की सुगन्ध से समस्त दिशाओं को सुरभित बनाता हुआ, सौरभ पर मस्त बने भ्रमरों द्वारा मंजुल गुंजारव के मिष से स्तुति प्राप्त करता हुआ, मस्तक पर फूलों से भरा पात्र रखे हुए, विचारमग्न दृष्टि से, इधर-उधर नहीं झांकता हुआ, सरलता की प्रतिमूर्ति के समान अर्जुन को आते देखकर वे छहों पुरुष परस्पर इस प्रकार कहने लगे—

पहला—कौन है ? सामने के पथ से यह कौन मूर्ख आ रहा है ?

दूसरा—नहीं जानते ? यह युधिष्ठिर का छोटा भाई अनंगधनुर्धर (फूलों वाला) अर्जुन है ।

तीसरा—अरे ! इसके पीछे मन्द-मन्द गति से चलने वाली यह कामिनी कौन है ?

चौथा—अरे ! नहीं जानता ? यह इस कृष्णावतार की कमनीय कान्ता है ।

पाचवाँ—मन्द-बुद्धि विधाता ने कलहंसी कौए को क्यों अर्पित कर दी ?

छठा—सुधा को भी मात करने वाली यदि इसकी अधर-माधुरी का पान न किया तो जवानी वृथा ही गँवाई !

बीच में ही एक—तब फिर देर क्यों ? झटपट मन चाहा कर डालो ।

दूसरा—इसके साथ इसका पति है, बलात्कार कैसे किया जाय ?

हँसकर एक दूसरा—अरे ! तुम बहुत डरपोक हो । ऐसे तो वेचारे सैकड़ों घूमते हैं ।

एक ने मुंह मरोड़कर—समझ-बूझकर काम करना चाहिए, जिससे साँप भी मर जाए और लाठी भी नहीं टूटे ।

दूसरा धीरे से कहता है—तो बताओ कैसे काम बने ?

हँसते हुए दूसरे ने कहा—अधिक मस्तिष्क घुमाने की जरूरत नहीं, एक युक्ति बताता हूँ।

सब जोर से हँस कर—बोल, बोल, तू ही बुद्धि में अभयकुमार है।

वह—सुनो, हम लोग पहले ही से यक्षालय में जाकर कपाटों के पीछे छिप जाएँ। श्वासोच्छ्वास की आवाज भी न करते हुए उसकी प्रतीक्षा करें। जब अर्जुन प्रतिमा के सामने जमीन पर मस्तक लगाकर सहर्ष प्रणाम करे, तब, जैसे बाज चिड़िया पर झपटता है, उसी तरह हम उस पर अचानक टूट पड़ें। उसके हाथ-पैर जोर से पकड़ कर पीठ की तरफ बाँध दें। उसे उसी दशा में वहीं छोड़ अपना वांछितकार्य निःसंकोच सिद्ध करें। यह बेचारा अकेला क्या कर लेगा ?

सभी तालियाँ बजाते हुए—"तू धन्य है। सौ-सौ बार धन्य है। कैसा सरल मार्ग तूने बताया है। तेरी तीक्ष्ण-बुद्धि के सामने तो शेषनाग भी लज्जा अनुभव करता है। तू पुरस्कार योग्य है।" इस प्रकार कहकर वे हाथापाई करते हुए जोर-जोर से हँसने लगे।

उनमें से एक—अरे ! यह बैल नजदीक आ गया है, अब ज्यादा देरी करना ठीक नहीं। कहीं ऐसा स्वर्णिम अवसर हाथ से न चला जाए।

यह सुनकर चलो, जल्दी चलो। इस प्रकार कहते हुए, किसी जगह गड़े हुए धन के लोभ से जैसे कृपण एक-एक से आगे भागते हैं, वैसे वे कामुक पुरुष यक्ष-भवन में जा पहुँचे। दोनों कपाटों के पीछे अपने आप को छिपाते हुए, चूहा पकड़ने को जैसे बिडाल चुपचाप ठहरता है, वैसे ठहर गये।

कामान्ध व्यक्तियों की साहसिक प्रवृत्ति को धिक्कार है। उनकी निर्लज्जता निन्दनीय है। उनकी नृशंसता तलवार से भी तीखी है। उनकी कलुषता-भरी मानसिक प्रवृत्ति काजल से भी ज्यादा काली है। उनकी काम-ज्वर की ज्वाला दावाग्नि को भी ठण्डी सिद्ध कर देती है।

स्मृतिमात्र से ही बढ़ने वाली विषमायुध काम की विषम विष-लहरी तालपुट से भी बढ़ कर है। कंदर्प के कोमल पाँचबाण तामस, क्षुरप्र एवं अग्निबाण को भी मात करते हैं। दिग्विजयी, विद्वत्शिरोमणि भी यहाँ आकर ठोकर खा जाते हैं। इन्द्रादि द्वारा पूजित बड़े-बड़े ऋषि भी यहाँ आते पतित हो जाते हैं। विश्वविजयी भी सीमंतिनी के सामने घुटने टेक देते हैं। हाय ! विधाता ने यह अमृत जैसा प्रतीत होता जहर क्यों बनाया ? यह कैसा विचित्र

पाश है, जिसमें बँधा हुआ भी मनुष्य सुख मानता है? यह कैसा अद्भुत कीचड़ है, जिसमें डूबा हुआ भी व्यक्ति हैरान नहीं होता? आर्द्रकुमार भी यहाँ आता निद्रित हो गया। नंदीषेण भी इसी कूप में गिर पड़ा। इस राक्षसी की दाढ़ में आषाढ़ मुनि भी आ गये। अन्य मतावलंबियों के हरिहरादिक देव भी इन मृगाक्षियों के सामने लज्जित हुए। इन्द्र भी इस पुष्प-धनु के सामने विडम्बित हुआ। अहो! कहाँ तक वर्णन करूँ, स्त्रियों के निमित्त क्या क्या अनर्थ नहीं हुए? स्त्रियों की लिप्सा ने कितनी लड़ाइयों का आह्वान नहीं किया? लीलावतियों के लांपट्य से कितने योद्धा मृत्यु के ग्रास नहीं हुए? कामिनी के वश होकर कितने यशस्वी तिरस्कार के भाजन नहीं बने? क्या वर्णन करूँ, यह कोकिलकण्ठी त्रिलोक को भी शोकाकुल बनाती है। जिस प्रलय-पवन से पर्वत भी कम्पित हो जाते हैं वहाँ पके हुए पत्तों के गिरने में क्या शंका है? जिस दावानल में महान् अरण्य भी भस्मीभूत हो जाए, वहाँ रुई के ढेर के जलने की बात ही क्या है? जिस काम के द्वारा बड़ों-बड़ों की कदर्थना हुई, वहाँ इन छह कामुक कीड़ों की क्या गणना है?

जम्बूकुमार और स्थूलभद्र जैसे इने-गिने विरले महामानव धन्य हैं, जिन्होंने त्रिभुवन को जीतने वाले महा बलवान् कामदेव राजा की सेना को ब्रह्मचर्य रूप खड्ग द्वारा पराजित किया और बुरी तरह से मृत्यु के घाट उतारा।

अब, जब मुद्गरपाणियक्ष के मन्दिर में पहुँच कर अर्जुन फूल चढ़ाता हुआ शान्ति से प्रतिमा को प्रणाम करने लगा, तभी वे ललित नाम वाले दुराचारी, —"इस दुष्ट को पकड़ो, पकड़ो" यों कहते हुए बिजली की तरह उस पर टूट पड़े। झटपट किसी ने उसका दाहिना हाथ जोर से पकड़ा तो किसी पापी ने बायां हाथ मरोड़ कर पकड़ लिया। किसी ने बायां पैर खींचा तो किसी ने दाहिना पैर। दूसरे दो व्यक्तिओं ने लोहे की सांकल-जैसी कठोर रस्सी से उस माली को मत्स्य की तरह पृष्ठ भाग में बाँध दिया। अर्जुन तो समझ भी नहीं पाया कि यह क्या हुआ? वह क्षण भर के लिए स्तब्ध-सा हो गया। कुछ बोल ही नहीं सका।

बँधे हुए अर्जुन को वहीं छोड़कर वे कामान्ध पुरुष मन्दिर के भीतर प्रवेश करती हुई बंधुमती को निर्लज्ज भाषा में इस तरह कहने लगे—"अरे! आ! आ! लावण्य-लीला-लहरी! प्राणप्रिये! हम लोगों का मनोरथ पूर्णकर! भागीरथी गंगे! काम-कीचड़ से भरे हुए हम पापियों को पवित्र कर! 'यौवन की मेघमाला! काम-ताप से संतप्त हम राहगीरों को प्रेम-वृष्टि से शीतल बना। हे सुभ्रू! हम कामार्तों को क्यों घुमा रही हो? हे मोहनवल्ली!

हरे भरे वृक्षों का आलिंगन क्यों नहीं करती हो ? हे वसुधा पर अवतरित सुधा ! क्यों नहीं हम चेतनारहित प्राणियों को जीवितदान देती हो ? इस तरह विषय-विषाक्त अनर्गल वचन बोलते हुए वे मृत्यु के समान उस बंधुमती का आलिंगन करने को तत्पर हुए।

श्येन पक्षी का आक्रमण होने पर जैसे चील और सिंह दिखाई देने पर जैसे हरिणी काँपती हुई किंकर्तव्यविमूढ हो जाती है, वही दशा बन्धुमती की हो गई। उसके तालु, जिह्वा, होठ सूख गये। आसपास कोई शरण न देखकर आँखों के सामने नीलपीतादि रंगों वाला अंधकार छा गया और उसके मुख-कमल की स्वच्छ कान्ति श्यामल हो गई। भग्न-स्वर से वह बार-बार पुकारने लगी—"हे प्राणेश ! मुझ अबला की रक्षा करो, रक्षा करो ! हे पतिदेव ! दौड़ो, शीघ्र दौड़ो ! धर्म नष्ट करने वाले ये गुण्डे मुझ पर आक्रमण कर रहे हैं।" इस तरह चिल्लाती हुई उस बन्धुमती को जमीन पर गिराकर वे छः ही दुराचारी बलात्कार करने लगे।

यक्ष-प्रतिमा के सामने, पीठ से बाँधे हुए माली ने अपनी प्राणप्रिया का पत्थर को भी पिघला देने वाला रुदन सुना और दुष्टों के द्वारा की गई स्त्री की कदर्थना भी देखी। तत्काल उसके होठ काँपने लगे। ललाट पर त्रिवली तन गई, और क्रोध से आँखों में उषा-काल की-सी लालिमा छा गई। इन दुष्टों को, पापियों को, दुराचारियों को, नीचों को क्षण भर में चोट पहुँचा दूँ, नीचे गिरादूँ, मार डालूं, इनका प्राण हरण करदूँ, इस तरह मन ही मन जोश खाते हुए एवं जाज्वल्यमान क्रोध-ज्वाला से प्रौढ़ पराक्रमी बनते हुए माली ने बन्धन तोड़ने की बहुत चेष्टा की। सारे शरीर की ताकत से हाथ पैरों को ऊँचा नीचा करने का अत्यन्त प्रयत्न किया। लेकिन निकाचित कर्म-बन्धन से बद्ध जीव की तरह उन बन्धनों को तोड़ने में समर्थ नहीं हुआ। अफसोस ! एक तिर्यंच भी अपनी प्रिया का तिरस्कार नहीं सह सकता, तो फिर विवेकशील हाथ-पैर वाला मनुष्य तो सहे ही कैसे ?

पिंजरे में बँधे सिंह की तरह, स्तंभ से बंधे हुए हाथी की तरह अर्जुन के सारे शारीरिक प्रयास व्यर्थ गये। क्रोध से थर-थर काँपता हुआ अत्यन्त संतप्त हुआ माली वहीं पड़ा-पड़ा विचारने लगा—हाय ! हाय ! आज यह क्या हुआ ? कैसे दरिद्र सूर्य का दर्शन हुआ ? यह कैसा दुर्दशा-दर्शक दिन है ? यह कैसी प्रलय की वेला है ? यह कैसी दुर्घटना वाली घड़ी है ? कोई दूसरा मनुष्य भी तो यहाँ नहीं है, जिसके सामने पुकार करूँ। अरे ! रे ! मैंने वृथा ही इस मुद्गरपाणियक्ष की प्रतिमा का पूजन किया। हा ! हा ! मैंने वृथा ही फूल

भेंट चढ़ाये। अरे! मैंने व्यर्थ ही चन्दनादि द्रव्यों से इसकी अर्चना की। हाय! मैंने वृथा ही इसके सामने मस्तक घिसा। आज मेरा सब कुछ होमा हुआ राख में गया। मेरी सारी क्रियाएं प्रवाह में मूत्र के समान अदृश्य हो गईं और मेरा सब किया कराया अरण्य-रुदन-सा सिद्ध हुआ।

हे शक्तिशून्य प्रतिमे! आखें फाड़कर क्यों भक्त की कदर्थना देख रही है? रे जड़मयी! अपने अस्तित्व को प्रकट करने में क्या तुझे शर्म आती है? चेतनाहीने! कोई भी शक्तिशाली भक्तों की दुर्दशा नहीं देख सकता। तू अपने सामने हो रही दुर्घटना को दूर न करती हुई क्यों नहीं दो चुल्लू पानी में डूब कर मर जाती? लोग विस्तृत स्तवना द्वारा व्यर्थ ही तेरी स्तुति करते हैं। हाय! अंधों के पीछे अंधे चलते हैं। धिक्कार है मेरे अविवेकी पूर्वज-पुरुषों को, जिन्होंने ऐसी निन्दनीय पूजा की कुल-परम्परा चलाई। काष्ठभूते! क्यों मन्दिर में बैठकर मूढ़ जनों को धर्म से च्युत करती है? क्यों नहीं जाज्वल्यमान अग्नि में पड़कर राख की ढेरी बन जाती? पतितसत्वे! तेरी इस शक्तिहीन स्थिति से क्या लाभ है? हे निष्क्रिये! क्यों वृथा गौरव धारण करती है। जब कि अवसर आने पर भी कार्य नहीं साध सकती? उस तेज घोड़े से क्या लाभ, जो दशहरे के अवसर पर भी नहीं दौड़ता? बड़े-बड़े स्तनों वाली उस गाय से क्या प्रयोजन, जो कभी दूध ही नहीं देती? उस धन्वन्तरि वैद्य का क्या किया जाय, जो चिकित्सा करने के अवसर पर भी प्रमाद में पड़ा रहे? अयि मुद्गरधारिणी! तेरे अन्तःसारशून्य मुद्गर की विभीषिका से क्या अर्थ? तेरे देवतापन की आज पोल खुल गई। तेरा प्रभाव-वैभव सब नष्ट हो गया। तेरा सारा चमत्कार-चातुर्य विलीन हो गया। तेरा वास्तविक रूप आज विदित हो चुका। सबके हृदय से तेरे प्रति विश्वास आज उठ गया। आज के बाद तुझे कोई पूज्य भाव से नहीं देखेगा और न तेरे सामने कोई उत्तम उपहार रखेगा। यही नहीं, तेरा यह स्थान शून्य रहने से रात को गधों का निवास बनेगा। तेरा स्नान कुत्तों के मूत्र से होगा। दिन-रात कबूतरों की ध्वनि से तेरी स्तुति होगी। पक्षियों के बच्चों की विष्ठा से तेरी चर्चना होगी। उल्लुओं के शब्द से तेरी घंटा बजेगी। रात को घूमने वाले सांपों की मणि से यहाँ प्रकाश होगा।"

इस तरह कल्पना-जाल बुनते हुए, सहायहीन अवस्था में यक्ष को बार-बार उपालंभ देते हुए और क्रोध की विवशता से बार-बार शाप देते हुए उस अर्जुन-माली के शरीर में, आसन चलित होने से सारी दुःखद घटना को जानकर, भक्त की सेवा के लिए तत्परता से आकृष्ट होकर, कुछ चमत्कार दिखाने के लिए यक्ष शक्तिरूप से तत्काल प्रविष्ट हुआ। उसी समय उसके शरीर में निग्रह करने

में सक्षम, हाथी के बल को भी परास्त करने वाली, पहाड़ों को भी चूर्ण कर देने में समर्थ शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि देवताओं का प्रभाव अचिन्तनीय है। कमल-नाल की तरह या कच्चे धागे की तरह उन बन्धनों को तत्काल उसने अनायास तोड़ डाला। तभी वह सहस्रपल भार वाला, यमराज के दण्ड के समान, उस मुद्गर को उठा कर आंखों से खून बरसाता हुआ दौड़ा। वह बार-बार मुँह से पुकार रहा था—पापियों के प्रमुखो! दुराचारियो! दुष्टो! ठहरो, ठहरो! तुम कामार्तों के पास काल आ ही धमका समझो। निर्लज्जो! दुराचार करने में तो तुम लोगों का दुश्चरित्र कुत्तों से भी बढ़कर है। रे कामान्धो! सभी जगह तुमने धांधली मचा दी। अब तुम्हारे दुःसाध्य रोग की प्रतिक्रिया हो चुकी। अब तुम्हारा अपराधी जीवन गया ही समझो। पतन योग्य तुम्हारे प्राण प्रयाण करने वाले ही हैं।

वे विषयलोलुप देख भी नहीं पाए, तब तक तो भयानक आकृति वाला अर्जुन मुद्गर उठा कर छहों पर टूट पड़ा। प्रचण्ड क्रोध के कारण पहले से ही उसका बल दूना बढ़ चुका था। यक्ष-प्रवेश से और अधिक बढ़े हुए पराक्रम से उसने इतने जोर से मुद्गर का प्रहार किया कि मिट्टी के भांडे की तरह उन छहों के मस्तक तीव्र ध्वनि के साथ भग्न हो गये। उनके मुँह से गर्म रक्त की धारा वह चली, मानो वह विषयराग की लालिमा प्रकट कर रही हो। "हमने देखने में बहुत पाप किया है" ऐसा पश्चात्ताप करते हुए उनके अक्षिगोलक बाहर निकल पड़े। 'हम ऊँची होकर क्या करेंगी',—मानो यह विचार कर उनकी नासिकाएँ लज्जा से नीची हो गई। 'दूसरों को चबाने वालों का निश्चित ही पतन होता है'—मानों यह तथ्य अपने दृष्टान्त से प्रकट करते हुए उनके दांत भूतल पर गिर पड़े। लम्बे निश्चेष्ट काष्ठ की तरह वहां पड़े हुए उनके कलेवर मानो कह रहे थे—'सब खाने के इच्छुक शृगाल, कुक्कुर, गीध आदि आएँ मन भर पेट-पूर्ति कर लें।'

इस तरह उन सबको नाम-शेष करके भी माली के क्रोधाग्नि की सर्वतोमुखी-ज्वाला शान्त नहीं हुई। विकृत-वेष वाली बन्धुमती को देख कर कोपकर्कश वाणी से भर्त्सना करते हुए वह कहने लगा—"री दुष्टे। अब तक क्यों जी रही है? पतिव्रत-धर्म नष्ट हो जाने पर भी मुँह दिखाते तुझे शर्म नहीं आती? जीवन प्यारा है, मगर धर्म उससे भी बढ़ कर प्यारा है। तत्त्ववेत्ता पुरुष शाश्वत धर्म के लिये क्षणिक जीवन को तृणवत् समझते हैं। रे पापिनी! तूने जीवन के व्यामोह से धर्म को त्याग दिया। पतित जीवन वाली! जब वे छः नीच पुरुष बल-प्रयोग करके तुझे स्पर्श करने लगे तब तू ने क्यों न रचनात्मक कार्य किया?

जिह्वा खींच कर उसी समय क्यों न मर गई ? किन्तु अर्थ शून्य-बेकाम, "प्राणेश्वर ! बचाओ, बचाओ !" ऐसा प्रलाप करके उस समय तूने क्या सतीत्व की उत्कृष्टता दिखलाई ? क्या तूने बहुत बार कानों से नहीं सुना कि धैर्यधुराधारिणी चन्दन-बाला की माता धारिणी ने रथिक के बलात्कार करने पर उसी क्षण जिह्वा खींच कर प्राणों को त्याग दिया था। इस पृथ्वी पर सतियों का धर्म नष्ट करने में कोई समर्थ नहीं है। महाबलशाली रावण भी सीता को छू तक नहीं सका। तेरे-जैसी कुलटाएँ तो कामी-पुरुषों द्वारा चलित होती ही देखी जाती है। श्वास के विश्वास से जीवित बैठी हुई भी तू शीलनाश से मरी हुई है, क्यों मेरे हृदय को दुःखित बनाती है ? वे लोग जहाँ गए उसी स्थान पर तुझे भी मैं पहुँचाना चाहूँगा।"

इस तरह आक्रोश करते हुए, हिताहित के विवेक से शून्य और पशु-बल को प्रश्रय देते हुए उसने अत्यन्तशीत से मानों कांप रही हो, ऐसी भयभीत, मृत्यु-दण्ड के अयोग्य, कर्तव्य-कातरा कामिनी के मस्तक पर उसी मुद्‌गर का गाढ़ प्रहार किया। 'मत मारो, मत मारो,' कहती हुई वह बेचारी लम्बी निद्रा में सो गई और वृक्ष से टूटी हुई शाखा की तरह भूमि पर गिर पड़ी।

हाय ! हाय ! क्रोन्धान्धों की वृत्ति कैसी कलुषित होती है ? क्रोध-प्रवाह में बहने वाले मनुष्यों की कैसी दयनीय दशा है ? खेद ! बिना विचारे ही उस दुष्ट ने यह दुष्कृत कर डाला।

प्राणप्रिया बन्धुमती को मार कर अर्जुन रक्तपात-जनित अतिशय आततायी-भावना से विचार करने लगा—"निश्चय ही यहाँ के सभी नागरिक प्रायः दुराचारी हैं। इनमें सच्चरित्र का बल बिल्कुल नहीं है। यहाँ का राजा भी नीति से प्रजा पर अनुशासन नहीं करता। नगर में क्या हो रहा है, इस पर ध्यान तक नहीं देता। इसके शासन में साधुओं को विषाद है, चारित्रशीलों को संकोच है। उन्मार्ग जाने वालों को प्रोत्साहन है। जीहुजूरों को पुरस्कार मिलता है, पाखंडियों की सेवा होती है। दंभरूप सर्प से डँसे हुओं को मान्यता मिलती है। धीराग्रणी दुःखित रहते हैं। सत्यवादियों की कदर्थना होती है और श्रेष्ठ पुरुषों का उपहास होता है। अच्छा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से प्रतिदिन छह-छह पुरुषों और एक स्त्री को इस मुद्‌गर से यमधाम पहुँचाऊँगा जिससे नागरिकों समेत राजा भी अपने शासित स्वाधीन साम्राज्य के सुख का अनुभव करेगा। अपनी उद्धतता का परिणाम भी भुगतेगा।"

रोष से अर्जुन के होठ कांप रहे थे। उसके शरीर में यक्ष प्रविष्ट था। वह मुद्‌गर उठा कर घूमने लगा और प्रतिदिन छह पुरुषों और एक स्त्री को

यमराज के पास पहुँचाने लगा। जब तक प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं होती तब तक वह विश्राम नहीं लेता।

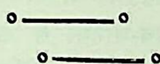
छह: नीच पुरुषों के अपराध के कारण वहाँ के कितने ही निरपराध व्यक्ति मृत्यु पाने लगे। हाय ! एक ही घर में फेंका हुआ अग्निकण क्या पड़ोसियों के सैकड़ों घरों को जला नहीं देता ? एक दुर्योधन की दुर्नीति से क्या कौरव-कुल काल-कवलित नहीं हुआ ? एक रावण के दुराग्रह से लंका के लोगों ने क्या कष्ट नहीं पाया ? कुछ यादव-कुमारों के मदिरोन्माद से क्या देवलोक समान द्वारिका का दाह नहीं हुआ ? यह उक्ति बिल्कुल सही है कि देश का त्याग करकें भी दुर्जन से बचना चाहिए।

जनता-से कोलाहल मच गया। दुर्भाग्य से यह क्या आकस्मिक उत्पात पैदा हो गया ? महामारी जन-संहार के लिए यह कैसी फूट निकली ? जन्म-जन्मांतर में बोई हुई एवं अनेक दुर्व्यसन-जल से सिक्त पाप-बेल पल्लवित हो गई। प्रतिदिन किसी का भाई, किसी का इकलौता पुत्र, किसी का जामाता, किसी किसी का पौत्र, किसी की माता, किसी की बहन, किसी की भानजी, अर्जुन द्वारा मारी जा रही है। सारा राजगृह 'हाय हाय के आर्तनाद से गूंजने लगा। घर-घर में दीन-स्वर से क्रंदन-ध्वनि सुनाई देने लगी। मार्ग में पुरवासी जन आपस में यही दुःखद वार्ता करते। राजा के पास भी यह पुकार पहुँची। बहुत सावधानी से श्रेणिक ने उस उपद्रव को समूल दूर करने के लिए अनेक चेष्टा की, पर लक्ष्य को न भेदने वाले बाणों की तरह राजा के सारे प्रयत्न विफल हो गए। मन्त्रीश्वर अभयकुमार ने भी इस उपद्रव की जांच-पड़ताल की। आखिर वह निष्कर्ष पर पहुँचा कि यक्षाधिष्ठित शरीर वाला अर्जुन लोगों को मार रहा है। इस उपद्रव की शान्ति सामान्य शक्तिधर मनुष्य कर नहीं सकेगा। पर समय आने पर कोई महाशक्तिधारी व्यक्ति द्वारा ही यह उपद्रव शान्त होगा।

विफल प्रयत्न वाले प्रजावत्सल राजा ने उस उपद्रव से पीड़ित होकर नगर में यह उद्घोषणा करवादी कि—'कोई भी चिरजीवित-कामी मनुष्य नगर के बाहर गुणशील उद्यान की दिशा में न जाए। यदि कोई अज्ञानवश या अपनी शक्ति के गर्व से चला जायेगा तो यमराज तुल्य अर्जुन गर्जारव करता हुआ उसको मार डालेगा और वहीं धराशायी हो जाएगा।"

यह घोषणा सुनकर कोई भी नागरिक उस दिशा में जाता नहीं था। फिर भी कोई दुःसाहस करके, कोई कौतुक के वश होकर, कोई दिशामूढ होकर,

मृत्यु की परवाह न करती हुई कोई कार्यमग्न वृद्धा, कोई गोमयादि (गोबर के कण्डे) लाने में तत्पर बालिका, कोई दूध बेचने वाली अहीरी, कई दूसरे स्थान से आते हुए पथिक या गाड़ी वाले अर्जुन की प्रतिज्ञा को पूर्ण करते रहे। इस तरह पाँच महीना तेरह दिन तक प्रतिदिन सात मनुष्यों के मारने में तत्पर, अत्यन्त निष्ठुर चित्तवाले, आततायी, अर्जुन ने ११४१ व्यक्तियों को समूल उखाड़ा, मारा और जीवन से च्युत किया। हाय! चंड स्वभाव वालों की वृत्ति कैसी चांडाली होती है!



चौथा समुच्छ्वास

नीतिज्ञ लोक निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी अपनी इच्छा से आए या जाए, मृत्यु आज हो या युगों के बाद, पर धीर व्यक्ति न्याय-मार्ग से एक कदम भी चलित नहीं होते। (भर्तृहरि)

वस्तु पर्यायरूप से प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिभंगी विविध भाव-भंगिमा से समस्त विश्वस्थिति को तरंगित करती है। जैसे भौतिक सुख पवन से आन्दोलित तरंगों की भाँति चंचल है, वैसे ही दुःख भी क्षणिक है। वस्तुतः संसार में जो सुख है, वही दुःख है और जो दुःख है वही सुख। मनस्वी पुरुष सुख की तरह दुःख को भी उपयोगी मानते हैं। रोग-शान्ति के लिए लोग मधु की तरह नीम को भी सहर्ष पीते हैं। सुख में फूलने वाले ही व्यक्ति दुःख में दीनता दिखलाते हैं। समता को श्रेष्ठ मानने वाले महर्षि सशरीरावस्था में भी मुक्ति-सुख का अनुभव करते हैं।

कोप-विवश अर्जुन ने राजगृह की जनता को बहुत त्रास पहुँचाया। जहाँ कहीं भी लोग इकट्ठे होते, यही बात करते—"कब यह नगरी इस कष्ट-समुद्र को पार करेगी? रक्तपिपासु मालाकार की यह क्रोधरूप प्रचण्ड चण्डी कब तृप्त होकर मुँह फेरेगी? अभी तक कोई ऐसे चिह्न नहीं दीख पड़ते जिनसे यह व्यथा-ज्वाला शान्त हो। भगवन्! हमने क्या ऐसे भयंकर पाप किए हैं, जिनके उदय से ऐसी भयानक विपत्ति-वेल बढ़ती ही जा रही है?"

इस तरह दुःख कीचड़ में कंठ तक फंसे हुए वहाँ के सभी लोग विविध विकल्पों की शय्या में सोते हुए नित्य दुःस्वप्न देख रहे थे।

इधर भव्य जीवों के सौभाग्य-पवन से प्रेरित मेघ के समान, जहाज से भव-समुद्र को स्वयं तैरते और अपने आश्रितों को तारते हुए, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए और परोपकारमय जीवन बिताते हुए अरिहन्त भगवान् चौबीसवें तीर्थंकर श्रीमद् वर्धमान स्वामी का राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में पदार्पण हुआ।

पूज्य देवाधिदेव के आगमन की सूचना धार्मिक लोगों को देता धर्म-चक्र आकाश में चलने लगा। निर्द्वन्द्व, अचल एवं अनन्त सुख के अभिलाषी भगवान् सदा आनन्दित रहते हैं मानो ऐसा आवेदन करती हुई देव-दुन्दुभि तीव्रध्वनि से आकाश में बजने लगी। चलते हुए धर्मचक्र को देखकर और देव-दुन्दुभि का शब्द सुनकर राजा और पुरवासी लोगों ने जाना कि निश्चय ही परमपूजनीय चरम-तीर्थंकर आर्य देवार्य का आगमन हुआ है और गुणशील उद्यान के भूभाग को पवित्र करते हुए विराजमान हैं। किन्तु अर्जुन के डर से वहाँ जाने में असमर्थ श्रेणिक आदि समस्त श्रावकों ने अपने-अपने स्थान पर ही विधि-सहित वन्दना की। अत्यन्त हर्ष से गुणग्राम का गान किया और धैर्य को शिथिल करते हुये कहा—भगवन्! हम अत्यन्त कायर हैं, इस कारण घर बैठे ही आपकी सेवा कर रहे हैं, साक्षात् दर्शन करने में अक्षम हैं। वह भी कोई धन्य समय होगा जब आपका मुखचन्द्र साक्षात् देखेंगे और चरण-युगल का मस्तक से स्पर्श करेंगे।

सुदर्शन सेठ ने भी गगन में चलते हुए धर्मचक्र को देखा और देव-दुन्दुभि का नाद सुना तो समझ लिया कि भगवान् का मंगलमय आगमन हुआ है। हर्षातिरेक से उसका मुख-कमल विकस्वर और सारा शरीर रोमांचित हो गया। अरिहन्त का परमोपासक और निर्मल दृष्टिवाला सुदर्शन विचार करने लगा—"धन्य है आज का दिन, जिसमें मानो सोने का सूर्य उदित हुआ है। धन्य यह मंगलमयी वेला और कल्याणकारिणी घड़ी। धर्मानुरागियों के द्वारा यह क्षण भी पूजनीय है। जिनके नाम-श्रवण मात्र से भी प्राणियों के समूह कृतकृत्य हो जाते हैं, उनका मैं आज साक्षात्कार करूँगा। सम्पूर्ण संसार में इससे बढ़कर क्या शुभ है? आज मेरा पुण्य-नीर से सिक्त भाग्यवृक्ष फलित हुआ है। गुण-रत्नों का निधान मेरे पास आ चुका है।"

इस तरह सोचता हुआ सुदर्शन भगवान के दर्शन के निमित्त तैयार हुआ। परम प्रसन्न-मुद्रा में सज्जीभूत प्रस्थानोद्यत पुत्र को देखकर माता-पिता ने पूछा—'नन्दन! आज कहाँ जाने के लिए तैयार हुए हो? क्या किसी सहचर ने भोजन के लिए निमन्त्रण दिया है? किसी धर्मसभा में जा रहे हो? अथवा अन्यत्र कहीं?'

हाथ जोड़ कर सुदर्शन ने उत्तर दिया—'नहीं, माता-पिताजी! मैं तो अपने परमाराध्य इष्ट देव श्री महावीर प्रभु के दर्शन के लिए उत्कण्ठित हुआ हूँ। वहीं जा रहा हूँ, कृपया मुझे शुभाशीष दीजिए।'

भयभीत होकर माता-पिता ने कहा—'क्या कहा? दर्शन के लिए उद्यान

में ! ऐसी बात मत कहो । माली की नृशंसता भूल गये क्या ? बेटा ! किसको भगवद् दर्शन अत्यन्तप्रिय नहीं है ! उनके द्वान्द्वातीत चरणयुगल को छूने की किसकी इच्छा नहीं होती । शान्ति-मार्ग बतलाने वाली सुधावर्षिणी उनकी वाणी किसके कर्णमूल को पवित्र नहीं करती ? किन्तु समय अनुकूल नहीं है । वही वहाँ जाने में विघ्न डाल रहा है । हे कुलकेतु ! क्या नित्य होने वाला हत्याकाण्ड तूने नहीं सुना ? घर-घर में सुनाई देता आक्रन्दन क्या तेरे करुणा-सरोवर को शुष्क नहीं बनाता ?'

'भगवान् तो केवलज्ञानी हैं । वे समस्त लोकालोक के भाव करामलकवत् प्रति समय देख रहे हैं । ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से गुप्त से गुप्त किया हुआ भी साक्षात् निहार रहे हैं । हे वंश के सूर्य ! महात्मा लोग भाव के भूखे होते हैं । वे सात्विक वृत्ति वाले बाह्य आडम्वर को विशेषता नहीं देते । इसलिए इस असामयिक कार्य से निवृत्त बन । यहीं ठहरकर उत्कृष्ट भक्ति से और अत्यन्त शुद्ध हृदय से भगवान् को सविनय प्रणाम कर, स्तोत्रादिसे उनका अभिवादन कर और आत्मानन्द में रमण करता हुआ आत्मा को पुष्ट कर । ऐसा करने से तेरी विनीत वन्दना विधिवत् स्वीकृत हो जाएगी । इसमें कोई सन्देह नहीं है ।'

किसी भी प्रकार की व्यग्रता न प्रकट करते हुए सुदर्शन ने कहा-'माताजी एवं पिताजी ! आप क्यों कमजोरी की बातें करते हैं ? 'महावीर' के अनुयायियों में क्या ऐसी कायरता उचित है ? जो महावीर के दृढ़ श्रद्धालु श्रावक हैं, उन्हें कहीं भी भय नहीं है । भगवान् की वाणी का निर्भयता से पालन करते हुए वे मृत्यु के मुख में भी सुख मानते हैं । प्राणी आवीचिमरण की अपेक्षा से प्रतिक्षण मर ही रहा है । निर्दय यमराज मुँह में डाले हुओं को निगलता हुआ, गोद में रखे हुओं को कैसे-छोड़ेगा ? अध्रुव प्राणों के लिए यदि ध्रुव धर्म को छोड़ दूं तो मेरे जेसा दूसरा कौन इस पृथ्वी पर मूर्ख होगा ? अविनश्वर आत्मिक सुख के निमित्त यदि नश्वर प्राणों का उत्सर्ग करदूं तो चिरकाली के लिये वीरों के समूह में चक्रवर्ती का पद पा लूंगा । पूज्यवरो ! सोचना चाहिए कि यदि में अपनी आत्मा में जन्तुमात्र के प्रति मैत्री रखता हूँ तो कौन मुझ से शत्रुता रखेगा ? यदि मैं सब सत्वों को अभय देता हूँ तो कौन मुझे भयभीत बना सकेगा ? सारे संसार को यदि में बन्धु मानता हूं, तो अकारण ही कौन मेरा विरोध करेगा ?'

क्या आपने देखा नहीं कि परम कारुणिक जिनेन्द्रदेव के पास सिंहनी मृगशिशु से स्नेह करती है ? बिल्ली भी चूहे को मारने के लिए नहीं झपटती ।

सर्पों को नौला व्याकुल नहीं करता। जन्मजात वैरी भी वैर छोड़कर हार्दिक-सौहार्द्र धारण करते हैं। मैं भी तो उन्हीं भगवान् का शिष्य हूँ। यद्यपि मुझ में वैसी अहिंसा की पराकाष्ठा नहीं है, फिर भी उनके प्रति तल्लीनता से और तादात्म्य संबन्ध से वही शक्ति पैदा हो जाएगी, इसमें कोई संशय नहीं है। हे माता-पिता ! यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो अजरामर आत्मा का कभी मरण नहीं होता। भाग्यशाली ज्ञानी पुरुष जीर्ण वस्त्रों के परित्याग में कभी कष्ट की परिकल्पना नहीं करते। इसलिए हे वीर के समुपासको ! आप जिनराज के दर्शन के लिए उत्सुक प्रथम मंगल अरिहन्तदेव को स्मृति में लाते हुए, सर्वतः भयरहित पुत्र को सहर्ष आज्ञा दीजिये। किसी प्रकार की आशंका न कीजिए। शुभ कार्य करते हुए अपने पुत्र का सानन्द हौसला बढ़ाइए।"

माता पिता, प्राणप्रिय सुदर्शन के वीरता से विलसित, कायरता से रहित, सुन्दर विचारों से पूर्ण और भावी हित के द्योतक वचन सुनकर और उसकी निश्चल भावना को लक्षित कर हृदय में डरते हुये भी "जैसा सुख हो वैसा कर"—कहकर मौन रह गये।

सुदर्शन ने सानन्द वीरदर्शन के लिए पैदल प्रस्थान किया। उत्तरासंगादि से शोभित दर्शनोचित वेशभूषा को देखकर रास्ते में मिले अनेक सवयस्क लोग प्रस्थान का कारण पूछने लगे। और 'श्री वीर प्रभु के दर्शन को जा रहा हूं' ऐसा सुनकर सभी स्तब्ध-चित्रलिखित-से हो गये। तत्पश्चात् प्रेमपूर्ण वाणी से कहने लगे—"मित्र ! वहां जाने के लिए यह समय कल्याणकारी नहीं है। समय को नहीं पहचानने वाले विद्वान् भी मूर्ख-शिरोमणि कहे जाते हैं। भगवान् यहां बहुत बार पधारे हैं और पधारेगें। हम उनके मंगलमय दर्शन का निषेध नहीं करते, किन्तु उनके दर्शन-स्थल को पाएगा कौन ? पहले ही मार्ग में साक्षात् यम के समान दारुण अर्जुन के दर्शन होंगे और वह हाथ में धारण किए मुद्गर से प्राणों का अन्त कर डालेगा। इसलिए हे मित्र, हमारी शिक्षा को मानो, अभी मत जाओ।"

स्मित-मुद्रा में सुदर्शन ने कहा—'अतिआश्चर्य है सहचरो ! क्या ही सुन्दर विचार है आप लोगों का ! आप क्या कल्याणकारी कार्य करेंगे, जिनकी आत्मा इतनी दुर्बल है और जिनको मरने का इतना भय है। कल्याणकारी कार्य से ही कल्याणकारी काल बनता है, न कि कल्याण की कल्पनामात्र से। उद्योगी कर्मशील व्यक्ति समय की प्रतीक्षा नहीं करते, प्रत्युत समय उनकी प्रतीक्षा करता हुआ उपस्थित रहता है। विद्वानों ने कहा है—शुभ कार्य शीघ्र

कर डालना चाहिये। कौन जाने आगामी समय कैसा आएगा ? समय अमूल्य-धन है। समय ही बड़ा साधन है। समय साधने वाले के सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जब मैं दूसरे गांव में भी प्रभु का पदार्पण सुनकर बहुत बार वहां दर्शन के लिए जाया करता हूँ तो फिर यहाँ विराजते हुए देवार्य की कैसे सेवा न करूँ ? मैं ऐसा मंदभाग्य नहीं हूँ कि मौत के डर से आत्मा को प्रभुदर्शन से वंचित रखूँ। मित्रो ! बुरे भावों में मैं बहुत बार मर चुका हूँ पर उससे कुछ भी कल्याण नहीं हुआ। यदि आज में प्रभु की ही लय में लीन, उनके ही ध्यान में मग्न और सर्ववासनाओं से मुक्त, अर्जुन के मुद्गर प्रहार से मर-जाऊँ तो इससे बढ़कर शुभ और क्या होगा ? स्नेहशील बन्धुओ ! आप लोग कोई खेद न करें, यह सुनिश्चित है कि अच्छे काम के अच्छे ही फल होंगे।"

उसकी ऐसी संकल्प-शक्ति को जानकर, 'शुभ हो' ऐसा कहकर सारे मित्रों ने अपना-अपना रास्ता लिया।

विद्युत् की चमक की तरह यह बात नगर भर में फैल गई। कुछ एक व्यक्ति वहाँ जाते हुए सुदर्शन को देखकर और उसके कार्य पर आक्षेप करते हुए व्यंग कसने लगे—

मुँह पर हास्य की रेखा दिखाते हुए एक ने कहा—यह महात्मा आज किधर जा रहे हैं ?

दूसरा—पता नहीं ? ये भक्त भगवान् के दर्शन व चरण स्पर्श के लिए जा रहे हैं।

जोर से हँसता हुआ तीसरा कहने लगा—झूठी बात है। ऐसा कहो, कि यह मृत्युदर्शन के लिए, भूमिघर्षण के लिए, और अर्जुन को हर्षित करने के लिए जा रहा है।

जोर से ताली बजाते हुए फिर दूसरे ने कहा—अरे तू तो मूर्ख है। कोई भी दुष्ट, भक्त का बाल बांका नहीं कर सकता। मृत्यु के मुँह में तो तेरे मेरे जैसे पापी ही समा सकते हैं।

फिर तीसरा—अच्छा, अच्छा, क्षमा करो, क्षमा करो, मैंने महापुरुषों की आशातना की है।

पास में खड़ा कोई चौथा – तब तो यह भक्त नगर के उपद्रव को भी शांत कर देंगें।

पहला—नगर का उपद्रव भी शान्त हुआ ही समझो, जब ऐसे भक्त जा रहे हैं…… !

दूसरा—अवश्य, अवश्य, वे स्वयं ही स्वर्ग को पवित्र करने के लिए शान्त हो जायेगें।

ठहाका मार कर हंसते हुए सभी—'अवसर का अजान तू रंग में भंग कर रहा है ?'

चौथा—ऐसे अवसर तो कभी-कभी ही मिलते हैं।

पहला—हां, रास्ते में भीड़ भी नहीं है।

दूसरा—अहो ! बिल्कुल जान लिया, जान लिया। एकान्त में भगवान् से वार्त्तालाप करने का भी मौका अच्छा मिल जायगा। ज्यादा भीड़-भाड़ में सूक्ष्म-प्रश्नों का भी समाधान नहीं हो पाता न······ ?

सभी बाले—ऐसे अवसरों को तो भक्त ही जान सकते हैं, दूसरे नहीं।

पहला—ऐसे भगवद्भक्त अपने शहर में कितने हैं ?

तीसरा—ऐसे भक्तश्रेष्ठ तो केवल पांच छः ही हैं।

दूसरे ने विस्मित होकर कहा—तो बाकी के पाँच कहाँ मर गए ? जो इसके साथ नहीं जा रहे हैं ?

तीसरा—तू तो बकवास कह रहा है। मृत्यु कहाँ पाए ! वे तो अर्जुन द्वारा नाम शेष हो चुके हैं।

दूसरा—हां, हां ! यह भी नामशेषता प्राप्त करना चाहता है।

पहला—क्या आश्चर्य है ? नामशेष ही संसार में जीवित हैं। तेरे जैसे अन्य तो जीवित भी मृत के समान हैं।

दूसरा—तेरे जैसे भी तो ?

चौथा—अच्छा, तो ये महात्मा पधारें और शीघ्र यशःशेष हो जाएं।

कुछ भद्र प्रकृति के धार्मिक जन सुदर्शन को जाते देख परस्पर कहने लगे—'धन्य है यह वीराग्रणी पुण्यात्मा सुदर्शन, जो मृत्यु भय की परवाह न कर महावीर के दर्शन के निमित्त जा रहा है। धन्य है इसकी माता को, जिसने ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया। इसकी धर्मनिष्ठा प्रशंसनीय है, जो आपत्काल में भी कर्त्तव्य च्युत नहीं होती।'

कतिपय भद्र पुरुष सहानुभूति दिखाने के लिए उसके साथ मुख्य दरवाजे तक गये और कुछ लोग कौतूहल के वश मृग की तरह उसके पीछे-पीछे, धीरे-धीरे चले। किन्तु सुदर्शन योगीश्वर की भाँति निन्दा और प्रशंसा में समभाव करता हुआ शहर के प्रधान द्वार पर पहुंचा। साथ के सारे लोग समुद्र तट के

किनारे पर खड़े पुरुषों की भाँति वहीं ठहर गए। कुछ लोग भावी-दृश्य देखने की उत्सुकता से द्वार के ऊपर चढ़ गए। परभवगामी जीव की तरह एकाकी सुदर्शन नगर के बाहर चला। केवल धर्म ही उसका सहायक था। महावीर के सम्मुख जाते हुए सुदर्शन को शान्तरस से संपृक्त वीररस जैसा, पिण्डीभूत धैर्य जैसा, अवतरित साक्षात् धर्म जैसा, मूर्त दयाभाव जैसा, चलता फिरता गुणरत्न-निधि जैसा और प्रत्यक्ष नियम जैसा दरवाजे पर खड़े लोगों को प्रतीत हुआ।

इधर प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या में लगा हुआ, क्रोध से व्याकुल, क्रूरता से भरा हुआ, हिंसक, अर्जुन जंगल में शिकार की खोज करने वाले व्याध की तरह गुणशील उद्यान के दरवाजे पर, कंधे पर मुद्गर धारण किये आने वाले की प्रतीक्षा कर रहा था। निर्भय सुदर्शन को आते देखकर खुश होता हुआ वह विचार करने लगा—अहो, मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए पहला ग्रास आ रहा है। मगर अति आश्चर्य की बात है! प्रायः हत्या के रहस्य को न जानने वाले ही मेरे नजदीक आते हैं और अन्धों की तरह मरणान्धकूप में गिर जाते हैं। पर आज तो सब रहस्य को जानने वाला कोई मरणेच्छु व्यक्ति ही सामने आ रहा है। अहो! अक्षयनिधि विधि का कौन पार पा सकता है? पडा-पड़ा भी अजगर पेट भर लेता है। केवल माँस-भोजन करने वाला सिंह भी प्रतिदिन तृप्ति प्राप्त करता है। विशदवंशी राजहंसों की भी पूर्णतया पूर्ति मोतियों से होती है। दुनिया जान गई है कि मैं मनुष्यों का संहार करता हूँ, फिर भी आश्चर्य है कि नित्य नये सात व्यक्ति मेरे द्वारा यमराज के पास पहुँचते जा रहे हैं। चलो, यह मरणासन्न उद्यान के पास आ चुका है। अभी इसे यमलोक में पहुँचा दूं। ऐसा निश्चयकर मुद्गर घुमाता हुआ, अधीरों का धैर्य डोलाता हुआ वह दौड़ा।

शस्त्रधारी दानव के समान पृथ्वी पर दौड़ते हुए अर्जुन को देखकर दरवाजे पर स्थित सभी लोग भय से कांप उठे। "हाय! हाय! प्रिय सुदर्शन यमराज द्वारा आलिंगित किया जा रहा है। शीघ्र ही इसका जीवन दीर्घमार्ग का आलम्बन लेगा। पापिष्ठ! तू कहीं भी समय नहीं पहचानता। अपनी उद्धत-प्रकृति से सभी जगह एक-सा वर्ताव कर रहा है। कैसे-कैसे नररत्नों को तू पुराने शरीर रूप मन्दिर से च्युत कर देता है। सचमुच विवेकहीनों की प्रवृत्ति बिना सोचे विचारे ही होती है। विचारशील व्यक्ति कुछ करते हुये पद-पद पर चिन्तन करते हैं। निपुण व्यक्तियों को मूर्खों के सामने विद्वत्ता या वीरता का प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिये। गांवडे का निवासी जड़मति व्यक्ति

विद्वानों की विशिष्ट पटुता व विद्याविलक्षणता को क्या जाने ? गुलाब के बगीचे में घुसकर भी गधा क्या सौरभ का आनन्द उठाएगा ? कदली-उद्यान में रहता हुआ ऊंट क्या केले खाने की विदग्धता दिखलायेगा ?"

सुदर्शन ने भी मुद्गर घुमाते हुए और साक्षात् यम का अभिनय करते हुए अर्जुन को देखा। वह तत्काल वहीं खड़ा हो गया और निर्भय भावना से चिन्तन करने लगा—"आगया है यह क्रोध से परवश, दयनीय दशा वाला, लोगों को संत्रस्त करता हुआ अर्जुन! लेकिन भयानक क्रोधरूप दानव क्रोध से नहीं मारा जा सकता। जो विरोध को प्रतिशोध से शमन करना चाहता है वह बन्धन डाल कर अग्नि को शांत करने का प्रयत्न करता है। खुजली खुजलाने से शीत नहीं होती। प्रतिकूलवस्तु को उसके प्रतिकूल स्वभाव से ही अनुकूल बनानी चाहिये, न कि अनुकूल धर्म से। पानी ही अग्नि को शान्त कर सकता है। अग्नि ही शैत्य में उष्मा भर सकती है। क्षमा ही क्रोध रूप रोग की उत्कृष्ट औषध है।"

"एक नीतिकार ने कहा है—क्षमा ही उत्तम प्रतिशोध है। क्षमा वीर का आभूषण है। इसमें कायरों का अधिकार नहीं है। इसलिए क्षमा रूप कवच को धारण कर रचनात्मक उपदेश से ही उसके क्रोध को शान्त करना उचित होगा, अभी वचन के उपदेश का असर नहीं है।" ऐसा विचारकर, सुदर्शन तत्काल हाथ जोड़कर भगवान् महावीर प्रभु को नमस्कार कर, विज्ञप्ति करने लगा—'हे त्रिकालदर्शिन्। भगवन्! जबतक आपका साक्षात् दर्शन न हो, तब तक इस क्षणभंगुर शरीर को बोसराता हूं, चारों आहारों का त्याग करता हूँ और समस्त जीवों के साथ मैत्री-भाव धारण करता हूँ, हे त्रिजगत्पति! आज मेरी परीक्षा का अवसर है। हे कृपासिन्धु! मुझे ऐसी अमोघशक्ति दो कि मैं जगत् के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा रख सकूं और आर्हतमतावलम्बियों का महान् आदर्श उपस्थित कर सकूं, साथ ही आपकी सर्वातिशायी महिमा प्रकट कर सकूं।"

"हे अनन्तशक्तिधर! छात्रों का परीक्षा में उत्तीर्ण होना अध्यापकों की महत्ता का सूचक है। सेना की विजय में ही सेनापति की विजय है। पुत्र की श्लाघा पिता को श्लाघ्य बनाती है। हे अमंदानन्दमय! आपकी छत्र-छाया मेरे सिर पर है, अतः में नितान्त निर्भय हूं। सारी वासनाओं के निष्कासन से पूर्ण सुखी हूं और तेरे चरणों में आत्म-समर्पण कर मैं बहुत आनन्दित हूं।

हे धैर्य-धौरेय ! आपके उपदेशामृत से जो तृप्त हैं उनका ध्यान कौन चलित कर सकता है ? आपके चरणकमल में रमण करने वालों का चित्त कौन चंचल बना सकता है ?"

इस प्रकार अपने मन को विशुद्ध करके और मेरु की तरह अडोल होकर सुदर्शन वहीं पर समाधिस्थ हो गया। योगीराज की तरह आँखें मूँद कर खड़ा रह गया।

पाँचवां समुच्छ्वास

महान पुरुषों के चित्त वज्र से भी अधिक कठोर तथा फूल से भी अधिक कोमल होते हैं। ऐसे लोकोत्तर पुरुषों की चित्तवृत्ति को कौन जान सकता है ?

—भवभूति

संसार के प्राणी सात भयों में से मृत्यु को सर्वाधिक भयंकर मानते हैं। कानों-कान किसी की मृत्यु की बात सुनकर भी लोगों के हृदय कंपित हो जाते हैं। यहाँ आकर सारी आशाएँ दिशाओं की भांति शून्य होने लगती हैं, और सारे ही कल्पित मनोरथ भूमिशायी हो जाते हैं। जगत् को जीतने वालों का भी यहाँ आते पराजय का ढोल बजने लगता है। परन्तु जो मृत्यु से भय नहीं खाते और काल के सामने भी विकल नहीं होते ऐसे वीराग्रणियों को कहां भय है ? उन निःस्पृहों के पराभव की संभावना ही कहाँ है ? अस्तु, सुदर्शन उस समय कूटस्थनित्य की तरह स्थिरता धारण किये हुए था और कलंक-रहित चंद्रमा की तरह अमृत वर्षा कर रहा था। उसे देखकर और समीप आकर गर्जता हुआ अर्जुन मन में सोचने लगा—अहो ! मैंने तो ऐसा कोई भी वीरशिरोमणि नहीं देखा, जो मेरे सामने भी निश्चल ध्यान-मुद्रा धारण कर रहा हो। दौड़ना, चिल्लाना तो दूर रहा, इसके चेहरे पर चिन्ता की रेखा भी दिखाई नहीं देती। यह कोई विलक्षण मनुष्य है, पर्वत से स्पर्धा करने वाला इसका धैर्य है। इसकी सहिष्णुता आश्चर्यजनक है। इसकी तल्लीनता प्रशंसनीय है और इसकी अलौकिक स्थिति देखने योग्य है। यह कोई मनुष्य है, या काष्ठ-ठूंठ है ? यह नर है या देवता ? यह चेतन है या जड़ ? कुछ भी समझ में नहीं आता। दूसरे लोग मेरी भयंकर आकृति को दूर से ही देखकर भय-भ्रांत हो जाते हैं। मुझे देखकर अपनी शक्ति का गर्व दिखाते हुए, मुझ पर आक्रमण करने के लिए युद्ध-तत्परता दिखलाते हैं और कई एक दूर से ही मेरी गर्जना सुनकर यम के महमान बन जाते हैं। पर आज क्या हो गया ? प्रतिदिन होने वाली घटना आज बिल्कुल विपरीत दिशा में जा रही है ? अरे ! इसके चेहरे पर न क्रोध हैं, न भय है, न

दीनता है ! न दम्भ है ! प्रेम की मूसलधार वर्षा से यह मेरे क्रोध-दावानल को शान्त करने की चेष्टा कर रहा है ।

'अरे अरे ! हट, चल-चल, अब तेरी यह बगुलाभक्ति वृथा है । इस अर्जुन ने तेरे जैसे सैकड़ों भक्तों को मृत्यु के घाट उतार दिया है ।' इस तरह मन ही मन अनेक कल्पनाएँ करता हुआ वह पापी तत्काल सुदर्शन के वध के लिए निर्दय हाथों से मुद्गर घुमाने लगा ।

हे भव्यो ! उसे कौन चलित कर सकता है, क्षुब्ध कर सकता है, या मार सकता है जिसकी रक्षा के लिए धर्म रूपी महाराज सावधानी के साथ तत्पर हो । धर्म-कल्पवृक्ष की गहरी छाया में बैठने वाले मनुष्यों के दुख विमुख हो जाते हैं, सुख समीप आते हैं, हर्ष बढ़ता ही जाता है, विषाद ठहर नहीं सकता, सम्पदा पग पग पर उसे वरण करती है । विपदा को वहाँ स्थान नहीं मिलता है । भव्यजनो ! ऐसे निष्कारण करुणावान् महारक्षक धर्म को पाकर भी क्यों दूसरों की शरण चाहते हुए कष्ट-पात्र बनते हो ? क्यों न धर्म-महाराज के चरणों में सर्वस्व समर्पण करके निश्चल बनते हो । वे ही मूढ़ संसार में मार खाते हैं, गिराये जाते हैं, हने जाते हैं, मौत पाते हैं, जो ध्रुव धर्म का आदर न करते हुए भटकते हैं, और दृढ़तापूर्वक उपासना न करते हुए धृष्टता दिखलाते हैं ।

खैर, मारने को जिसने गदा ऊँची कर रक्खी है, ऐसा मदान्ध अर्जुन धर्म-प्रभाव से या भगवान् के अतिशय से गदा को नीचे करने में समर्थ नहीं हुआ—उसके हाथ ऊपर ही ऊपर स्तब्ध हो रहे ।

विज्ञजनो ! देखिए यह अहिंसा और हिंसा का निर्द्वन्द्व संघर्ष ! एक ओर जगत् को ग्रसित करने के लिए उत्सुक, क्रोध से लाल, दयारहित, होठों को डँसती हुई कदाग्रहवती साक्षात् हिंसाराक्षसी और दूसरी ओर सुदर्शन की तीन लोक में मैत्री सूत्रित करती हुई, प्रेममयी विकस्वर आंखों से महान् आकर्षण बिखेरने वाली, जगत्-विजयिनी परम पवित्र साकार अहिंसादेवी । इधर उछलती हुई हिंसा-राक्षसी दया-देवी पर अपना स्वतन्त्र अधिकार जमाना चाहती है, उधर करुणामयी दया-देवी क्रूर-हिंसा को समूल नष्ट करना चाहती है ।

'इन दोनों में कौन विजयिनी बनेगी, और कौन पराभूत होगी' इस प्रकार दुर्ग पर खड़े लोग संदेह कर रहे थे । या पुष्करावर्त मेघ के सामने दावानल कहाँ तक अपना बल दिखलाए ? देव-योग्य सुधा के आगे कब तक विष का प्रभाव टिक सके ? अहिंसा-देवी के सामने अपना पराक्रम टिकता न देखकर निर्दयता-दानवी किंकर्त्तव्य विमूढ़ा हो गई ।

अपनी पूरी शारीरिक और मानसिक शक्ति से गदा-प्रहार करने की चेष्टा करते हुए भी अर्जुन की गदा तार-मात्र भी नीचे नहीं आ सकी। किन्तु व्यायाम करने वाले की ज्यों ऊँची उठाई गई वह गदा उसके हाथों में ऊपर ही बनी रही। अत्यन्त विस्मित व खिन्न होता हुआ अर्जुन तब मन में सोचने लगा- "यह क्या बात है? यह क्या घटना घटी है? क्यों मेरा प्रयत्न व्यर्थ हो रहा है? यह पहला ही अवसर है कि मेरा प्रयास विपरीत हो रहा है। हाय! हाय! हरदम मेरी सहायता करने वाला यह मुद्गर क्यों आज मेरे साथ शत्रु का-सा व्यवहार कर रहा है? क्या यह पांच मास तेरह दिनों में ११४१ व्यक्तियों को मारता-मारता उद्विग्न हो गया? या इसकी रक्त-पिपासा शान्त हो गई? अथवा यह मुद्गर दयार्द्र हृदय हो गया? अरे मुद्गर! लम्बे समय तक मेरे साथ मैत्री रखता हुआ आज क्यों विपरीत आचरण कर रहा है? मेरा तुझ पर पूर्ण विश्वास है। तू ही अगर विश्वासघात करेगा तो मैं किसकी शरण लूँगा? महान् व्यक्ति आरब्ध कार्य में कदापि विश्राम नहीं चाहते। अरे! मैं समझ गया, प्रायः डरपोक को ही सब डराते हैं। निर्भय से सब डरते हैं। अरे! 'देवो दुर्बलघातकः' यह किंवदंती भी आज पूरी तरह चरितार्थ हो चुकी।"

"मुद्गर! तू भी निर्भय वीराग्रणी पुरुषसिंह को सामने देख चंचलता छोड़ कर स्थिरता धारण कर रहा है? क्यों नहीं प्रतिदिन किया जाने वाला कार्य सम्पन्न करता है?"—क्रोध और अभिमान-मिश्रित अनेक विकल्प करते अर्जुन ने बार-बार पूरी ताकत से मुद्गर को नीचे करने का प्रयत्न किया, किन्तु दरिद्र की कल्पना की ज्यों उसकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो गईं।

इधर वैराग्य-सरोवर में डुबकी लगाता हुआ, महावीर देव के चरणकमलों में भ्रमर के समान रमण करने वाला, मृत्यु से भी न डरने वाला योगीराज की ज्यों दृढ़ता धारण करता सुदर्शन क्षणानन्तर सोचने लगा—'ओह! क्यों न अभी तक आततायी अर्जुन ने मेरे वध का पाप संचित किया? हिंसक व्यक्ति ने इतनी देरी कैसे की? क्योंकि हिंसक जन सहसा-प्रवृत्ति वाले होते हैं।' ऐसा चिंतन करते हुए सुदर्शन ने कृपा-पवित्र आखें खोली और गदा उठाए हुए अर्जुन को देखा। अहिंसा-प्रतिष्ठित सेठ का दृष्टिपात होते ही हिंसा पक्षग्राही यक्ष कांपने लगा और उसी क्षण अर्जुन के शरीर को छोड़कर पलायन कर गया। सूर्य का उदय होने पर कैसे अँधकार अपना अस्तित्व टिकाए रख सकता है? मूसलधार मेघ के बरसते कहाँ तक उष्णता ठहर सकती है? या पक्षिराज गरुड़ के आने पर कहाँ तक सांप फटाटोप दिखला सकता है? मुँह

छिपाकर हिंसा-राक्षसी भाग गई। अहिंसा देवी के विजय-घोष से सब दिशाएँ गूँज उठीं।

यक्षावेश के दूर होते ही अर्जुन मूर्छा-रोगी की भांति तत्काल जमीन पर पड़ा। पर-पीड़ा देने वालों का निश्चित ही पतन होता है, मानो यही आवेदन करता हुआ रक्त-रंजित मुद्गर भी एक तरफ गिर गया। अथवा क्षमा (पृथ्वी) ही मुझे क्षमा देगी, ऐसा विचार कर उसने क्षमा की शरण स्वीकार की।

उपसर्ग दूर होने पर, जिसकी प्रतिज्ञापूर्ण हो चुकी ऐसा सुदर्शन, अर्जुन को यक्षावेश रहित, मूलस्वभाव में आया जानकर बन्धुत्व-भरी वाणी से कहने लगा—'हे भद्र ! भूमि पर लोटता हुआ क्या विचार कर रहा है ? उठ देख, तेरे सामने तेरा स्वजन खड़ा है। अर्जुन ! क्रोध को छोड़। क्षमा का आदर कर। भाई ! तूने यक्षावेश के अधीन होकर बहुत दुष्कर्म किया है और काजल के समान काला अपयश संचित किया है।' सुदर्शन के ऐसे वचनामृत से सिक्त और कुछ सावचेत होता हुआ अर्जुन सोचने लगा—मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ का हूँ ? मैं कहाँ आ गया हूँ ? मेरा काम क्या है ? यहाँ क्यों पड़ा हुआ हूँ ? धीरे-धीरे मदिरा का नशा उतरने पर जैसे मद्यप मनुष्य सोचता है, वैसे अपना नाम कार्यादि स्मृति में लाने लगा। छः पुरुषों तथा बन्धुमती की हत्या और प्रतिदिन किया जाने वाला सात व्यक्तियों का वध उसे याद आया। वह सहम-सा गया।

"निश्चय ही यह कोई नर-श्रेष्ठ है, जो मधु के समान मधुर वाणी से मुझे पुकार रहा है। इस महामानव की कृपा से ही मेरे शरीर से यक्षावेश दूर हुआ है। इस मनस्वी को प्रणाम करूँ, इसका मंगलकारी नामादि पूछूँ और यहाँ आने का कारण भी जानूँ !" इस प्रकार विचार कर अंगड़ाई लेता उठा और श्रेष्ठी को प्रणाम करता हुआ सरलता से हाथ जोड़ कर पूछने लगा—'आप कहाँ के रहने वाले हैं ? आपके नाम को किन शुभाक्षरों ने पवित्र किया है ? यहां क्यों पधारे हैं ? आगे कहाँ जा रहे हैं ?'

मृदुतापूर्ण वाणी से सेठ ने प्रत्युत्तर दिया—'भाई, जहाँ तेरा निवास है, वहीं मेरा है। लोग मुझे सुदर्शन के नाम से पुकारते हैं। भगवान् के दर्शनार्थ मैं जा रहा हूँ। रास्ते में तेरी हिंसावृत्ति को जानकर में प्रभु के ध्यान में लीन हो गया। उनकी अवर्णनीय महिमा से सारे अरिष्ट नष्ट हो गए और तू भी स्वाभाविक दशा में आ गया।'

सुदर्शन की सरलता भरी वाणी सुनकर माली ने सोचा—ओह भव्य भक्ति-रक्त भगवद्-भक्तों में भी ऐसी लोकोत्तर शक्ति विद्यमान है कि इनके सामने हिंसा-तत्पर महाक्रूरकर्मा यक्ष भी भय से भाग गया ! फिर त्रिलोक-पूजित अतिशयधारी भगवान् का तो कहना ही क्या ? अफसोस ! इतना समय मैंने यक्ष की सेवा में गँवाया। यदि मैं इतना समय वर्द्धमान प्रभु की सेवा में लगाता, तो न जाने कितनी सफलता प्राप्त कर लेता। खैर, अब इन बातों से क्या लाभ ? वर्तमान का ही अनुगमन करना चाहिए'—ऐसा विचार कर कष्ट भरी वाणी से सुदर्शन से कहने लगा—'हे श्रेष्ठिवर ! मुझ पर अनुग्रह करके बताइए कि वे पतितोद्धारक महामहिम महात्मा महावीर भगवान् कौन हैं, जिनके दर्शन की इच्छा के कारण आप मृत्यु-आतंक से भी शंकित नहीं हुए और मेरे जैसे पशुवृत्ति वाले को भी मानवता दिखला सके ? मैं भी उनका नयनामृत दर्शन चाहता हूँ।'

'सुहृद्वर ! मंद बुद्धि वाला मैं अपने निन्दनीय आचरणों को कैसे व्यक्त करूँ। हाय ! हाय ! मुद्गरपाणियक्ष के आवेश से ११४१ व्यक्तियों को मार कर मैंने घन-घटा से भी काला, लोहे के घन से भी अधिक निकाचित, वज्र से भी कठोर, महारण्य से भी निबिड, विष से भी कटुक और नारक द्वारा भी दुर्भोग्य पाप का संचय किया है। हाय ! हाय ! नगरवासी मुझ पर क्रोध करते हैं, द्रोह करते हैं, मेरा नाम सुनकर ही भयभीत होते हैं, दुराशीष देते हुए मेरी भर्त्सना कर रहे हैं, और रोष-रक्त नेत्रों से मुझे देखते हैं। धिक्कार है, मुझे धिक्कार है। ओह ! मुझ महापापी ने तनिक भी नहीं सोचा कि छः नराधमों के अपराध से नागरिकों का क्या अपराध है ? हाय, न जाने कितने पूज्य वृद्धजनों, भविष्योज्ज्वल कितने दुधमुँहे बच्चों, कार्य-भार वहन करने वाले कितने युवकों और मां की तरह पूज्य कितनी अबलाओं को क्रोध के वश होकर मैंने यमराज की भेंट चढ़ा दिया। अथवा रागद्वेष-युक्त देवों की सेवा से सेवकगण भी क्यों न राग-रोषाकुल हों ? कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, इसमें कोई विचित्रता नहीं। वीतराग की सेवा करने वाले सर्वत्र समदर्शी, निर्मलाचारी आप समस्त नागरिकों द्वारा बंधु की तरह देखे जाते हैं, और प्रेमपूर्ण दृष्टि से सत्कृत किये जाते हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आपने करुणामय उपदेशामृत का सदा पान किया है, कायरता को हटाने वाली, वीरता को बढ़ाने वाली, प्रभु की मुद्रा को ही देखा है और सर्वत्र समता से अनुप्राणित निर्वैरशिक्षा को ही सुना है।

अस्तु, हे परोपकारपरायण। मुझे भी वीर भगवान् के पास ले चलिए और अधर्मी का उद्धार करने वाली उनकी मुद्रा मुझे भी दिखलाइए, उनका

उपदेशामृत मुझे भी पिलाइए। गुणीशेखर ! मैं नहीं मानता कि आप भगवान् के दर्शन निमित्त इधर आए। मेरा विश्वास है कि मुझे प्रतिबोध देने के लिए ही आप इधर आए हैं।

हे गुणज्ञ। सुरासुरों के आवागमन से संकुल, साधु-समूह के विराजने से देदीप्यमान, अनेक प्रकार की कठोर तपस्या करने वाले तपस्वियों से आलोकित, परम मुदित, प्रलम्बित बाहु, ध्यान-मुद्रा में स्थित मुनियों से विशुद्ध वातावरण वाला, त्रिलोकी-पति द्वारा पवित्रित उस अद्भुत स्थल में तुम्हारे पीछे ही मैं प्रवेश पा सकूँगा, अन्यथा मेरे जैसे हत्यारे को कौन वहाँ घुसने देगा ? आपके सहयोग से मेरा भी कल्याण हो जाएगा। नीचे जमीन में पड़ा हुआ भी पानी, रस्सी वाले घड़े के सहारे ऊँची गति पाता है। पावन गुरु-चरण-कमल से स्पृष्ट धूल भी मनुष्यों के मस्तक में स्थान पाती है, अतः अब आप अग्रगामी बनें और मैं आपका अनुगामी बनता हूँ।'

उसकी आर्य महावीर के दर्शन की अत्यधिक अभिलाषा देखकर अमृत का सिंचन करता और फूलों को बरसाता हुआ मानों सुदर्शन बोला—'हे भद्र ! विलम्ब का क्या काम है ? वहाँ जाते हुए तुम्हें कौन रोक सकता है ? परोपकार-परायण भगवान् महावीर का द्वार दिन-रात सब प्राणियों के लिए खुला रहता है। वहाँ जाने के लिए धनी-निर्धन, राजा-रंक, ज्ञानी-अज्ञानी, धार्मिक-अधार्मिक, कुलीन और अकुलीन, देवता और तिर्यंच सभी समान अधिकारी हैं। भाई ! अपने किये हुए बुरे कर्मों को याद करके क्यों खेद करता है ? वहाँ दुःसाध्य रोगों का भी प्रतीकार सम्भव है। हे देवानुप्रिय ! भूलें तो प्राणी करता ही है, इसमें कोई नई बात नहीं, पर श्रेष्ठ तो यह है कि दोष दोष रूप में ज्ञात हो जाएँ और मन से उनका निराकरण करने की चेष्टा की जाए। अच्छा, तो आओ, अपन दोनों वहाँ चलें।

इस प्रकार वे परस्पर वार्त्तालाप करते हुए दोनों उस दिशा में चल पड़े।

०———०

०———०

छट्ठा समुच्छ्वास

महात्माओं का प्रभाव अचिन्तनीय होता है ।

—सिद्धसेन दिवाकर

"भगवन् ! अनंतचतुष्टय में आप अनंतबली कहे जाते हैं। आपका गौरव वर्णनातीत है । आपके ध्यान में एकतान हुए योगीजन न भूख से पीड़ित होते हैं, न तृषा से व्याकुल ! न शीत से कम्पित होते हैं और न ताप से त्रस्त। वे घोर तपस्या आचरते हुए परमानन्द का सुखास्वाद करते हैं । हे त्रिजगत्-पति ! आप के साथ तन्मयता साधने वाले प्राणी शीघ्र ही आपकी दुष्प्राप्य समकक्षता पा जाते हैं । अन्य देवों से विलक्षण आपका यह उत्कृष्ट सौजन्य है। हे सर्वदर्शिन् ! आज हमारे कलेजे का टुकड़ा, अत्यन्त प्यारा पुत्र सुदर्शन आपके दर्शन के निमित्त गया है । हे परमेष्ठिन् । घातक अर्जुन के डर से डरे हुए हमने वहां जाने के लिए उसे बहुत मना किया, परन्तु वह तो आप पर पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ, हमारे कहने पर मृत्यु की भी परवाह न कर, निःशंक आपकी और रवाना हो गया । हे देव ! क्या हम दोनों उसका मुख-कमल फिर देख पायेंगे ? क्या उसका विनय-विनम्र मस्तक हमारे चरणों का स्पर्श करेगा ? क्या हम दोनों का दाहिना हाथ उसके स्निग्ध-केश-विलसित मस्तक पर फिर टिकेगा ? और क्या सुधावर्षिणी जल-सी सरल उसके मुख की वाणी हम फिर से सुनेंगे ? आपके चरणों की कृपा से पुत्र का सर्वथा मंगल ही होगा, फिर भी भगवन् ! प्रेम-पूर्ण हृदय स्थिर नहीं हो पाता ।"—इस तरह भक्ति और मोह से मिश्रित नाना कल्पनाएँ करते हुए, सुदर्शन की पुनः-पुनः स्मृति करके आंसुओं से तालाब-सा भरते हुए, प्रतिक्षण आगन्तुक व्यक्तियों से उसका वृतान्त उत्सुकता से पूछते हुए, और नाना विचार-धाराओं से क्षण में शोक और क्षण में हर्ष प्रकट करते हुए सुदर्शन के माता-पिता घर में बेचैनी से समय व्यतीत करने लगे ।

उसी क्षण महानंदकारी संदेश से अभिनन्दित परम-प्रसन्न हृदय वाले कुछ

नगरवासी लोगों के मुँह से उठी मंगलमयी ऊँची ध्वनि माता-पिता के कानों में पड़ी—"शुभ है, शुभ है! मंगल है, मंगल है! कल्याण है, कल्याण है। भद्र है, भद्र है! हट गया टल गया नगर का उपद्रव! नगर पर छाई हुई विपत्ति रूपी घन-घटा वीर-दर्शन एवं भक्ति रूप प्रतिकूल पवन से प्रेरित होकर छिन्न-भिन्न हो गई। जिस उपसर्ग को चतुरंगिनी सेना से सम्पन्न श्रीमान् श्रेणिक महाराज भी शान्त नहीं कर सके उसे प्रभु के एक दर्शनोत्सुक वीर भक्त ने विना शस्त्र, बिना दूसरे के सहारे और विना संघर्ष ही उपशान्त कर दिया। वस्तुतः उसने जगत् के सामने अहिंसा का साकार चित्र प्रस्तुत कर दिया।" अनेक जनों द्वारा अत्यन्त हर्ष के साथ जोर-जोर से बार-बार इस प्रकार कहे हुए शब्दों को सुनकर मानों कानों में आकर्षण पैदा हो गया हो, ऐसे सुदर्शन के माता-पिता—"यह क्या? कहां से कैसी यह ध्वनि सुनाई पड़ रही है? सुदर्शन का नाम बार-बार कानों में सुनाई दे रहा है।" यों कहते हुए घर से एक-दम बाहर आकर पूछने लगे।

'हे भद्र महोदयो! आज नगर में क्या अद्भुत घटना घटी है, जिससे लोगों में इतना कोलाहल सुनाई दे रहा हैं?'

किसी आगन्तुक ने कहा—'क्या अभी तक आप को पता ही नहीं? आपके कुल-सूर्य ने अद्भुत कार्य कर दिखाया है।'

पिता बोले—नहीं-नहीं, हे भद्र! शीघ्र कर्णामृत पिलाओ!

आगन्तुक बोला—ओह! जो असाध्य प्रतीत हो रहा था उसे भी आपके पुत्र ने सुख-साध्य बना दिया।

हर्ष परवश पिता-माता ने कहा—विस्तार से कहो भाई! जिससे हम भी जान सकें।

इतने में दुर्ग पर रहे हुए अनेक लोग दौड़ते हुए सुदर्शन के घर में घुसे। 'सुदर्शन की विजय हो, सुदर्शन की विजय हो' ऐसे बार-बार नारे लगा कर पिता के वस्त्र खींच कर वधाई मांगने लगे और प्रमोद-भरी वाणी से कहने लगे—'सुन लिया आपने पुत्र-रत्न का अलौकिक कार्य? क्या आप ने आज की घटना जान ली?'

अत्यन्त प्रसन्न हो कर माता-पिता बोले—नहीं, पूरी नहीं सुनी।

आगन्तुक जन—तो अश्रुत पूर्व वृतान्त ध्यान-पूर्वक सुनिये।

माता-पिता उत्सुक होकर—सुनाओ, विस्तार से सारी घटना शीघ्र सुनाओ।

पड़ौसी भी उत्सुकता से सुदर्शन के भवन में एकत्र हो गए और घटित नूतन वृत्तान्त सुनने को सभी ने मौन धारण किया।

उन वृत्तान्त ज्ञाताओं में से एक वाक्पटु बोला—भगवान् के दर्शन को जाते हुए सुदर्शन के साथ हम लोग भी कौतुक देखने के लिए नगर-प्राकार तक गए।

पिता—अच्छा ! हां, आगे कहिये।

हम लोग वहीं ठहर गये। आपका वीराग्रणी पुत्र आगे चला।

बीच में ही माता ने पूछा—अरे भाइयो ! उस वक्त मेरे बेटे के मुँह पर कोई भय का चिन्ह तो नहीं था ?

वक्ता—क्या पूछतीं हो ? कायरों को वहां जाने का कहां साहस ? वह तो यहीं पड़े-मरते हैं।

माता—ठीक-ठीक, आगे बताइए।

वक्ता—उसे निःशंक आते देख कर वह पापी अर्जुन मुद्गर उठाकर सामने दौड़ा।

रोमांचित होती हुई माता ने पूछा—तब मेरे पुत्र ने क्या किया ?

वक्ता—उसी समय उसने भगवान् का ध्यान शुरू कर दिया।

पास में बैठे हुए सभी—ओह, ऐसे समय भगवान् का ध्यान ? धन्य है, उस नरपुंगव को, धन्य है उसकी माता को और सबसे अधिक धन्य है उसके धैर्य को।

गद्गद बनती माता ने कहा—फिर क्या हुआ ? क्या हुआ ?

वक्ता—भगवान् के प्रभाव से वह मुद्गर को नीचा ही नहीं कर सका।

माता—ऐसा ?

पास में बैठे सभी—धन्य है ! भगबान् का प्रभाव ? इसीलिये लोग प्रति-दिन सभक्ति आराधना करते हैं।

पिता—उसके बाद क्या घटना हुई ?

वक्ता—मुद्गर सहित वह जमीन पर गिर पड़ा।

माता—वह जमीन पर गिर पड़ा ? मुझे नहीं मालूम था कि मेरे पुत्र में ऐसी अवर्णनीय शक्ति विद्यमान है। अच्छा फिर क्या हुआ ?

वक्ता—यह तो नहीं मालूम कि उन दोनों में क्या वार्तालाप हुआ, मगर अर्जुन को साथ लिये, आपका पुत्र भगवान् की तरफ रवाना हो गया। यह

देखकर ही हम सब अत्यन्त हर्षित हुए और इस वृत्तान्त को प्रकट करने के लिए तत्काल नगर में आये।

इस प्रकार पुत्र की कुशल-वार्ता सुनकर माता-पिता परम आनन्दित हुए। धन्यवाद देकर उन लोगों को विदा किया। भगवान् व पुत्र को साक्षात् करने की अभिलाषा से उत्तम धार्मिक रथ तैयार करने की आज्ञा दी। मेघ-गर्जना की भांति यह बात सारे शहर में फैल गई। सारे विज्ञजनों के मन रूप-चौराहे पर सुदर्शन की कीर्ति-रूप नर्तकी नाचने लगी। राजा ने भी नगर के निरापद होने का वृत्तान्त जाना। तभी शहर में यह उद्घोषणा करवाई कि अब से किसी भी दिशा में लोग इच्छानुसार जा सकते हैं, अब अर्जुन का कोई भय नहीं रहा।

इधर सुदर्शन तीर्थनाथ के विविध और यथार्थ गुणग्राम से अर्जुन को तृप्त करता हुआ, महापुरुषों के लोकोत्तर चरित्रों का वर्णन सुनाता हुआ और क्षमाशूरों की क्षमाशीलता को बताता हुआ, भगवान् के समीप जा पहुँचा।

उदयाचल पर स्थित सूर्य-मण्डल के समान पादपीठ-सहित सिंहासन पर विराजमान, 'शोकरहित व्यक्तियों के द्वारा यह आश्रयणीय है' मानो ऐसा आवेदन करती हुई सदा प्रोत्फुल्ल अशोक वृक्ष की छाया में सुशोभित, 'तीनों लोकों में ऐसा पारमैश्वर्य अन्यत्र कहीं नहीं है.' ऐसा प्रगट करते तीन छत्रों से गौरव युक्त, 'यहाँ किंचित् भी अज्ञान-अन्धकार का प्रसार नहीं हैं' ऐसा जताते हुए विभाजाल से भासुर भामण्डल से चतुर्दिक् देदीप्यमान, मानो कर्म-रूपी रज को हटा रहे हों, ऐसे चमकते हुए चंचल चामरों से वीज्यमान मुखारविन्द वाले, आन्तरमल के साथ बाह्यमल से रहित, अस्नानव्रत वाले भी स्नातानुलिप्त की भाँति कमनीय कान्ति से युक्त, प्रखर तेज होते हुए भी किसी को ताप न देने वाले, चन्द्र की तरह शीतल होते हुए भी कलंकरहित, शैलेशी अवस्था के समीप जाते हुए भी जड़तारहित, त्रिलोकविभुता प्राप्त होने पर भी अपरिग्रही, पद्मा—लक्ष्मी का आसन छोड़कर भी पद्मासन से अवस्थित, भस्म या अक्षमाला आदि न रखते हुए भी परमयोगीराज, समस्त विश्व-नाटक को करामलकवत् देखते हुए भी अविस्मयापन्न, शान्तिमय, ज्ञानमय, तेजोमय, प्रश्न करते हुए गौतमादि गणधरों द्वारा पर्युपासित, कल्पनाओं द्वारा अकल्पनीय, वर्णनों से अवर्णनीय, वचनों से अनिर्वचनीय, साक्षात्कार द्वारा ही मननीय और दूसरों से अनुपमेय-असाधारण तीर्थंकर महावीर को सुदर्शन ने देखा।

स्याद्वादवादी जिनेश्वर का दर्शन होते ही सुदर्शन और अर्जुन का शरीर

रोमांचित हो गया। सहज आनन्द का समुद्र उछाल खाने लगा। उनके हृदय-कमल प्रफुल्लित हो गये। मन, वचन, काया के योग सद्भावना से भावित हो गये। सारे वैमनस्य विस्मृत हो गये। चारों तरफ विशुद्ध वैराग्य की स्थिति प्रस्फुरित होने लगी। समस्त मानसिक व्यथाएँ मन्द हो चलीं और उन्हें सारा ही संसार प्रभु-मय दिखाई दिया। उसी क्षण सुदर्शन ने पाँच अभिगमन करके यथास्थान जाकर, तीन वार विधिवत् प्रदक्षिणा देकर, सविनय नमस्कार कर, 'कल्याणं मंगलं' आदि शब्दों द्वारा स्तुति कर, सुख-प्रश्न पूछ कर और भक्ति-पूर्वक हाथ जोड़कर इस प्रकार स्तुति की—"हे नाथ! चतुर्गति वाले चराचर विश्व में चक्कर काटने वाले प्राणियों के लिए आप ही शरण हैं, अनाथों के योग-क्षेमकर्त्ता नाथ आप ही हैं। अधमोद्धारक का विरुद आप ही वहन करते हैं। हे करुणाकर! आपकी शरण से दुर्जन सज्जन, पापिष्ठ धार्मिक और अज्ञानी ज्ञानी बन जाते हैं। मिथ्यात्वी सम्यग्दृष्टि तथा नास्तिक आस्तिकता पा जाते हैं। हे त्रिकालज्ञ! हम जो शुभाशुभ आचरण करते हैं, आपसे किंचित् भी छुपा नहीं है। हमारे मन में उत्पन्न होने वाले संकल्प विकल्प आप में स्फटिक की भाँति प्रतिभासित होते हैं। हमारे इन्द्रिय-समूह का उत्पथगमन आपसे अज्ञात नहीं है। प्रभो! ऐसा कोई मार्ग बतलाइए जिससे इन्द्रिय और मन काबू में आ सकें। हे तीर्थप्रवर्तक! मेरे साथ जो अर्जुन मालाकार आया है, वह कुदेव की उपासना करने वाला असम्यक्दृष्टि है। हे कृपालो! यह हिंसा आदि आस्रवों से अनभिज्ञ है। कुदेवसेवी होने के कारण रोष के वशीभूत होकर इसने घोर पाप बाँधा है। पाँच महीने तेरह दिनों तक प्रतिदिन एक स्त्री और छः पुरुषों को इसने निःसंकोच होकर जान से मारा है। हे करुणा-मूर्ति! आपके अतिशय से इसके हृदय में करुणा जागृत हुई है। अपने किये हुए भयानक पाप से अब यह कांप रहा है और उन्हें याद कर-कर के बड़ी ग्लानि अनुभव करता है। निन्दनीय आचरण का प्रायश्चित्त भी करना चाहता है। हे भवरोगों के सफल चिकित्सक! जीवन की आशा छोड़ने वाले इस मृत-प्राय को धरातल पर एक मात्र आप ही जीवन देने वाले हैं। हे देव! इसलिये दृढ़ संकल्प व दृढ़ निश्चय कर आपके ही शरण-योग्य समझकर यह मेरे साथ आया है। हे पतितोद्धारक! मैं प्रार्थना करता हूँ कि इस अत्राण को त्राण दो, इस असहाय की सहायता करो और निराश्रय को अपने चरण-कमल में आश्रय दो।"

इस तरह सुदर्शन की विनय-पूर्ण, यथार्थ एवं आत्महितकारी विज्ञप्ति सुनकर वर्षाकालीन मेघ के गर्जारव के समान, नाना भाषा-परिणमन-स्वभाव वाली, विविध सन्देह दूर करने में समर्थ, मनोहारिणी वाणी से मुनियों के

स्वामी भगवान् महावीर ने कहा—"देवानुप्रिय अर्जुन ! धैर्य रख, विश्वास कर, मैं तुझे शान्ति का पथ बतलाऊँगा।"

"कुसंस्कारों के अधीन आत्मा से प्रायः ऐसे अनार्य कार्य हो ही जाते हैं, उन्हें छेदने के अनेक उपाय भी चिरकाल से विद्यमान हैं। बोल, क्या जानना चाहता है ?"

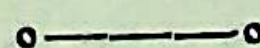
इतने में अनेक विस्मितमानस, प्रसन्नमुख, एक-एक से आगे बढ़ते हुए नागरिकों से भगवान् का प्रवचन स्थल भर गया। उनके सामने हाथ जोड़कर बालक की तरह सरलता से अर्जुन सविनय पूछने लगा—

"भगवन् ! दुःखों के कारण क्या हैं ? उन कारणों का प्रादुर्भाव कहाँ से है ? और उनका सम्पूर्ण नाश कैसे होता है ? हे त्रिकालज्ञ ! आत्मा क्यों पाप का उपचय करती है ? वहाँ कैसी वृत्ति सहायता करती है और उन पापों से छुटकारा कैसे होता है ? यही मैं जानना चाहता हूँ, कृपालु ! कृपा कीजिए।"

अल्पाक्षर वाला भी बहुत सारगर्भित, बाह्य वचनवर्गणाजन्य होता हुआ भी हृदयस्पर्शी, विविध भावभंगीयुक्त होता हुआ भी संशय-रहित, जल की तरह कोमल होता हुआ भी मिथ्यात्वरूपी विशाल पर्वत का भेदन करने में समर्थ, तात्पर्य से विलक्षण होता हुआ भी कारकादिलक्षण-युक्त, साधारण जनवेद्य होता हुआ भी गूढ़ रहस्य वाला, सरस, सुबोध और सुमधुरवाणी से भगवान् ने उत्तर फरमाया—"वास्तव में देखा जाय तो यह संसार दुखों से परिपूर्ण है। इसमें जन्म, जरा, मरण आदि अनेक कष्ट स्पष्ट हैं। भौतिक सुख, परिणाम में विरस होने के कारण सुखाभास मात्र हैं। प्रतिक्षण संसारी जीव दुख-दावाग्नि से जल रहे हैं। नाना प्रकार की आधि-व्याधिपूर्ण कष्ट-परम्परा सह रहे हैं।"

दुःख का मुख्य कारण तृष्णा है। निदानभेद से तृष्णा भी नाना प्रकार की बतलाई गई है। जैसे-अनेक लोग धन की कामना करते हैं, कोई काम-भोग के अभिलाषी हैं, कोई पुत्रादि परिवार चाहते हैं, कोई ऐश्वर्य चाहते हैं, कुछ लोग यश के भूखे हैं, कुछ सम्मान की खोज में रहते हैं और कोई स्वास्थ्य के प्रार्थी हैं। अधिक क्या कहूँ, नाना प्रकार की वस्तुओं की लालसा के कारण तृष्णा भी नाना प्रकार से लोगों को सताती है, घुमाती है, खिन्न करती है, पीड़ा देती है, चिन्ता करवाती है और मारती है। यह सर्वभक्षी तृष्णा राक्षसी कहीं भी तृप्त नहीं होती। लाभ होने पर फिर और लाभ की इच्छा से मुँह फाड़ती है, ज्ञानवानों को भी अज्ञान के गड्डे में गिराती है, विरागियों को भी भव-रंगमंच पर नचाती है। अत्रस्तों को त्रस्त बनाती है, अविनष्टों को नष्ट एवं दृढ़व्रतियों को व्रतभ्रष्ट कर देती है और शुभ संकल्पों से च्युत करती हुई धैर्यधुरन्धरों को

ध्वस्त कर देती है। जगत् में जितने अनर्थ होते हैं वे प्रायः सभी तृष्णा के परिणाम हैं। महापुरुषों के प्राणों की आहुति लेने वाले जितने महासंग्राम होते हैं वे भी प्रायः सभी तृष्णा को तुष्टि के लिए ही। न्यायविरुद्ध जितने ही विवाद उठते हैं, वे भी अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए ही। धर्म के नाम पर भी जितने उपद्रव बार-बार होते हैं वहाँ भी स्वार्थान्धता कारणभूत है। अस्तु. तृष्णा ही दुख की जड़ है। तृष्णा-रूपी मृगी जिनके चित्त रूपी पहाड़ को छोड़ कर भाग निकली उन्हें सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। उदासीन वृत्ति से, सुख से रहने वालों के लिए पग-पग पर निधान है। उन माध्यस्थ दृष्टि वालों के लिए सर्वत्र ब्रह्मसाक्षात्कार है। वे मान-अपमान में, हर्ष-शोक में, सुख-दुख में और जीवन-मरण में समता भाव रखते हैं। अनासक्त भाव में रमण करने वाले वे पुरुष जीते हुए भी यहीं किंचित् सिद्धि-सुख का अनुभव करते हैं। तृष्णा की उत्पत्ति तो पूर्वजनित कर्म संस्कार से होती है। सम्यग्ज्ञान से ही तृष्णा का समूल नाश होता है। जैसे-जैसे तृष्णा बढ़ेगी वैसे-वैसे प्राणी के पाप की भी अवश्य वृद्धि होगी। पाप बढ़ने से आठ मिट्टी के लेप वाली तुम्बी की तरह प्राणी नीचे-नीचे जाता है, आस्रव वहाँ सहायक बनता है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील आत्मा को भव रूप गड्ढे में गिरा देता है। पुण्य-पाप-जनित सुख-दुःख सदा अनुभव करता प्राणी कुंभकार के चाक की ज्यों चौरासी लाख जीव-योनियों में चक्कर खाता रहता है। जब संवर द्वारा आने वाले कर्मों को रोक कर, बाँधे हुए कर्मों को निर्जरा से जर्जरीभूत बना कर समस्त पुण्य-पापमय कर्मों का निरन्वय नाश करता है, तब क्षण भर में अग्निशिखा की भांति या एरण्डबीज की तरह स्वभाव से ऊर्ध्व-गमन करके, बन्धनों से मुक्त होकर तथा सब दुखों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है। मुक्तदशा में आत्मा अजर, अमर, अक्षय, अव्याबाध आध्यात्मिक सुख को सादि अनन्त रूप से प्राप्त करता है और लोक के ऊर्ध्वभाग में स्थित शाश्वत सिद्ध हो जाता है।



सातवाँ समुच्छ्वास

सघन मेघ की घटा भी जैसे तीव्र वायु से बिखर जाती है, वैसे ही पाप की श्रेणी तपस्या से छिन्न-भिन्न हो जाती है।

—शान्तसुधारस

अनन्त शक्ति का स्वामी आत्मा कर्ममल से मलिन होने के कारण अपने स्वरूप को भूल कर, पररूप में परिणत होता हुआ अपने को शक्ति-शून्य मान कर संसार रूपी अटवी में भ्रमण करता है। किन्तु सिंह की तरह जब वह अपने स्वरूप को पहचान लेता है, तब इन जड़ कर्मों का नाश करने में क्या विशेषता है! नेत्रों की निर्मलता आदि गुणों से सम्पन्न पुरुष स्वयं द्रष्टा है, फिर भी सूर्यालोक की अपेक्षा रहती ही है, कर्त्ता-हर्त्ता तो स्वयं आत्मा है फिर भी जिनकी आत्मा आलोकित हो चुकी हो ऐसे महापुरुषों की सहायता अपेक्षित है ही।

अस्तु, यथार्थ विवेचन से विवेचित, उपशम-रस से भरपूर, अतिप्रशंसनीय, उच्च रहस्य से विलसित, हृदय परिवर्तन करने में सक्षम तथा निरन्तर स्वयं आचरित होने के कारण विशेष प्रभावशाली उपदेश सुनकर परम वैराग्य को प्राप्त होते हुए अर्जुन ने परम शान्ति, परम आनन्द और परम ज्ञान पाया। मेघगर्जना के बाद जैसे मयूर केका-रव करता है, वैसे ही प्रभु के वचनामृत का पान कर स्तुति करता हुआ वह इस प्रकार सहर्ष निवेदन करने लगा—'हे पारगत! आपके उपदेशामृत को आकंठ पीकर मुझे चेतना प्राप्त हुई है। संसार की ज्वाला से अपनी आत्मा को निकालने के लिए मैं भागवती दीक्षा सोत्साह अंगीकार करना चाहता हूँ। मेघ की मूसलधार वर्षा से शान्त होने वाला दावानल कोटि-कोटि घड़ों के पानी से शान्त नहीं होता। मेरे जैसे आततायी की रक्षा अणुव्रतों के ग्रहण से संभव नहीं होगी। महाव्रत ही मेरे दुष्कृत्यों को दूर कर सकेंगे, इसमें संशय नहीं। जो करना है, उसे एक साथ ही संकल्प की दृढ़ता से करना चाहिए। धीरे-धीरे मंथरगति से करने वालों को

वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता। अतः हे विश्वतारक ! पतित-से-पतित, अधम-से-अधम, नरक-गमन योग्य, निन्दनीय चरित वाले इस शरणागत का हाथ पकड़कर उद्धार करो। देव ! मुझ जैसे का उद्धार करने से ही आपकी दीनोद्धारधुरधरता तथा परमकारुणिकता प्रकट होगी। उदारचरितों में कहीं दृष्टिवैषम्य नहीं होता। आसार धारा से बरसता हुआ परोपकारी मेघ क्या ऊंची नीची भूमि को देखता है ? सारे संसार को आलोकित करने वाला सूर्य क्या घूरे-उकरड़े को आलोकित नहीं करता ? हे परमेश्वर ! आपने तो मेरे जैसे अनेकों पापी-शिरोमणियों को भवपारावार से पार किया है। फिर मेरा उद्धार करने में आपको क्या कठिनाई है ? अतएव शीघ्र इसे शिष्यरूप में स्वीकार कीजिए, झटपट इसे मुनि मण्डली में स्थान दीजिए और इस जगत्-निन्दित को जगतवन्दित बनाइये।

भक्ति की शक्ति से पूर्ण अर्जुन की विज्ञप्ति सुनकर प्रभु ने फरमाया—"अर्जुन! तू मेरे निकट निर्ग्रंथ दीक्षा लेना चाहता है। अभी तेरी भावना अत्यन्त भव्य है, परन्तु पहले पूर्णरूप से समझ लेना चाहिए कि साधुत्व असिधारा को चाटने के समान, गुरुतर लोहभार को अपने स्कन्धों पर उठाने के समान, पर्वत शिखर पर बरसते हुए मेघ के पानी के वेग से तटों को तोड़ देने वाली कल्लोलों से चंचल, सैंकड़ों आवर्तों से संकुल नदी के प्रतिस्रोत को तैरने के समान, मोम के दांतों से लोहे के चने चबाने के समान, लक्षयोजन विस्तृत मेरु पर्वत को पंगुली पर थामने के समान और नीरस बालुका को निगलने के समान दुर्निवह है, दुःसाध्य है और दुष्कर है। इसमें कमजोर व्यक्तियों का अधिकार नहीं हैं। वे साधुता के नाम से ही कतराते हैं, काँपते हैं और भाग जाते हैं। यह तो शौर्यशाली, वैराग्य के रंग में रंगे हुए, भीषण परीषहों के विजेता एवं वासना-विहीन जनों द्वारा ही सेव्य है, ग्राह्य है और आश्रयणीय हैं। जो बाल-क्रीड़ा की भाँति क्षणिक आवेग में आकर शीघ्र संयम लेना चाहते हैं, वे किसी कष्ट-परम्परा को प्राप्त कर संयम में शिथिलता लाते हुए श्रान्त, उद्विग्न, भ्रष्ट और मार्गच्युत हो जाते हैं। वेश में विशेषता नहीं है, विशेषता है, वासना के विनाश में, तपस्या की तल्लीनता में और आत्म-मन्दिर में स्वाधीन रमण में। इसलिए संयम लेने वाले को पहले दृढ़-संकल्प होना चाहिये।

वर्धमान स्वामी की ऐसी ओजस्विनी एवं वीरतावर्धक शिक्षा को माला की तरह धारण कर साहस-मूर्ति अर्जुन ने बलपूर्वक कहा—"तीर्थेश ! आपकी सूचना अक्षरशः सत्य है। संयम ग्रहण करना बच्चों का खेल नहीं है, यह मैं भी मानता हूँ, उस पर श्रद्धा और प्रतीति करता हूँ, किन्तु मेरा हृदय सुदृढ़

है, सुस्थिर है और सावधान है। भीरुता मेरे निकट भी नहीं फटकती। हे जगन्नियामक ! मेरे जैसे दग्ध हृदय में दुर्बलता को कहाँ स्थान है ? कर्मशूर प्रायः जब धर्म में लग जाते हैं तो वहाँ भी वे कभी शठता नहीं करते। हे नाथ ! अधिक क्या कहूँ, आपकी कृपा से, चाहे प्राणों को त्याग दूंगा, लेकिन अंगीकृत अभिग्रह से एक पैर भी इधर उधर नहीं रक्खूंगा।"

इस प्रकार अर्जुन की पूर्ण दृढ़ता जानकर जगद्गुरु महावीर ने कहा—"जैसे सुख हो वैसा करो, विलम्ब मत करो।"

इस तरह भगवान की आज्ञा प्राप्त होने पर अत्यन्त हर्षविभोर, सुदर्शन द्वारा प्रदत्त साधुजनोचित उपकरण लेकर, परम-शान्त रस में लीन दीक्षाभिलाषी अर्जुन हाथ जोड़कर भगवान के समक्ष खड़ा हुआ।

वायु के साथ जैसे सुगन्ध दिग्मण्डल में फैल जाती है उसी तरह अर्जुन की दीक्षा का शुभसम्वाद नगर में फैल गया। इस आश्चर्यकारी वृतान्त को सुनकर कहीं दो-तीन, कहीं पाँच-छह और कहीं सात-आठ व्यक्ति एकत्र होकर परस्पर बात करने लगे।

पहला—अरे, सुना कि नहीं !

दूसरा—क्या ? क्या ?

पहला—आज अर्जुन मालाकार महावीर स्वामी के पास भागवती दीक्षा की याचना कर रहा है।

दूसरा—हैं ! दुष्ट अर्जुन ! जगत् का हत्यारा अर्जुन ! झूठ है, सरासर झूठ है। किसी के यहाँ असमय में घोड़ी ब्याई होगी (इस कारण झूठी अफवाह फैला दी है।)

पहला—हाथ-कंगन को आरसी क्या ? हम लोग अभी चलें और अर्जुन की दीक्षा देखें।

इस तरह विवाद करते हुए, उत्कंठा से अनेक भद्र व्यक्ति तीव्र गति से रवाना हुए। तत्काल तीर्थंकर की परिषद् नागरिकों से खचाखच भर गई। उस समय अर्जुन साकार सात्विक रस जैसा या प्रत्यक्ष उपशमभाव जैसा दृष्टिगोचर हो रहा था। उसे देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये और मन ही मन कहने लगे—अहो ! अहिंसा देवी अचिन्त्य शक्तिशालिनी है। कैसा असम्भव परिवर्तन ! आततायी मनुष्य भी तायी बन गया, क्रोधी भी क्षमावान् बन गया और दयाहीन भी सदय हो गया।

पंच-मुष्टि-लोच किए हुए अर्जुन को दीक्षा देते समय भगवान ने उसे तीन

करण, तीन योग से सर्व सावद्य योग का प्रत्याख्यान करवाया। अष्टादश पापों की निवृत्ति करवा कर पाँच समिति और तीनगुप्ति में सावधानता दिखाते हुए, सामायिक चारित्र देते हुए, दश प्रकार के यति-धर्म में सुदृढ़ स्थापित किया। अनगार धर्म को ग्रहण कर शान्त, दान्त, अकिंचन, ब्रह्मचारी, कषायमुक्त और षष्ठभक्त तप (बेले-बेले) से निरन्तर आत्मा को भावित करते हुए अर्जुन मुनि ने ऐसा अभिग्रह स्वीकार किया—"जो भी कोई अनुकूल-प्रतिकूल परीषह उत्पन्न होंगे उन सबकों मैं आज से सम्यक्तया सहन करूंगा, खमूंगा, और ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय मोक्षमार्ग में रमण करता हुआ सफल समय बिताऊँगा।"

ऐसी प्रतिज्ञा कर अर्जुन मुनि विनय और श्रुत का अभ्यास करते हुए, स्वाध्याय और ध्यान में रत रहते हुए, जब-जब षष्ठभक्त की पारणा होती तब तीसरे प्रहर में भगवान की आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए राजगृह में जाते। उस समय उन्हें देखते ही कितने ही लोग प्रियवियोग के ताप से सन्तप्त हो जाते, उनका वैर उभर आता और वे विवेक की सीमा को लांघ कर, क्रोधारुण होकर घृणा के साथ कहने लगते—"धिक्-धिक्, देखो-देखो, यह आया, पाखण्डी अर्जुन! हाय! इसी दुष्ट ने मेरी परमानन्ददात्री माता को दीर्घनिद्रा में सुलाया था।

दूसरा कहता—अरे! इसी नीच ने हमारे खानदान के छत्र-समान पूज्य पिताजी को मौत के घाट उतारा है।

एक दूसरा—हाँ, नहीं जानते? मेरे परम वत्सल भुजा-समान भाई रूपी सूर्य को इसी राहु ने ग्रसा है। ओह! जिस प्रियतमा के वियोग से मेरा घर श्मशान के समान और मन शून्य-सा प्रतीत हो रहा है, वह इसी दुष्ट की निर्दयता का परिणाम है।

कोई अन्य कहता—हाय! हाय इसी हत्यारे ने मेरे घर के दीपक इकलौते, अत्यन्त प्यारे, ललित केश-वेश वाले बालक को मारा है! उससे शून्य मेरी गोद ज्योतिरहित नयन की नाई असुन्दर लगती है। अरे नीच! पापी! ठगोरे! मेरे दूधमुंहे बच्चे ने तेरा क्या बिगाड़ा था? अरे, मैं क्या करूँ? कहां जाऊँ?" ऐसे अनेक प्रकार से पूर्व-विहित विरोध को याद कर-कर के दुखी होते अर्जुन ऋषि की अवहेलना करते हुये लोग कानों में कांटों जैसी कर्कश वाणी से भर्त्सना करते थे। कई गाली के साथ सख्त ढेलों से ताड़ना देते थे, कुछ लोग होठों को डँसते हुये मुष्टि आदि से सरोष पीटते थे, कुछ एक निर्दयता से, चमकते खड्ग से प्रहार करते थे। कतिपय अत्यन्त तेज चाकू के आघात से

उन्हें खून की धारा से स्नान करवाते थे और कई कर्दमादि से लिप्त करते हुए और थूकते हुए उनका अपमान करते थे। अधिक क्या कहा जाय, अनेक मनुष्य अनेक प्रकार से वैर याद करके प्रतिशोध लेते थे। कोई कहते—अरे निष्ठुर चित्त वाले ! जान ली, जान ली तेरी साधुता ! लाखों चूहों को मार कर मानो बिलाव केदार-कंगन पहन कर तीर्थ यात्रा करने चला है ! इधर-उधर घूमने में अशक्त वृद्धसिंह ने मानों दूसरे जंगली प्राणियों को ठगने के लिए निरामिष भोजन का व्रत ग्रहण किया है ! अरे कपटपटु ! अत्यन्त मिष्ट मिसरी के पानी से सिंचा हुआ भी नीम क्या कभी आम बन सकता है ? गंगा में नहलाया हुआ भी गदह क्याा कभी जातिमान् अश्व बन सकता है ? सिंह की चमड़ी पहन कर भी क्या सियार सिंह बन सकता है ? अरे दंभी ! क्यों संसार को ठग रहा है ? दंभाचरण से क्यों भद्र प्राणियों को विप्रतारित कर रहा है ? हो चुका तेरा वैराग्य ! हो गई तेरी तपस्या ! भर पाई तेरी आस्तिकता और क्या धरा है तेरे संयम में।"

ऐसे अनेक प्रकार से आक्रोश करते हुए मनुष्यों की गर्हा, निर्भत्सना, ताड़ना, छेदन-भेदन प्राप्त करके भी अर्जुन ऋषि केवल भगवान् की शिक्षा को लक्षित करते हुए किंचित् भी क्रोध न करते और न खिन्न, क्लिष्ट, त्रस्त और उद्विग्न ही होते। प्रत्युत सहिष्णुभाव से हृदय में चिन्तन करते—अहो ! मैंने इन नगर-निवासियों का घोर अनिष्ट किया है, निर्दयता से इनके अत्यन्त प्यारे स्वजनों का घात किया है, इन्हें महती क्षति पहुँचाई है और पूर्ण पशुबल से इन पर उपद्रव किया है। इस कारण ये यदि क्रोध करते हैं, द्रोह करते हैं, मुझ पर आक्रोश करते हैं, मुझे ताड़ना देते हैं और मारते हैं तो अनुचित क्या करते हैं ? बीजानुरूप ही फल लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आत्मन् ! तेरे सिर जो ऋण है उसे हँस-हँसकर, चाहे रो रो कर दे, पर वापिस देना ही होगा। ऐसी स्थिति में उऋण होने की इच्छा वाले व्यक्ति को उसे हँस-हँसकर ही देना चाहिये, न कि रो-रो कर। ये तो बहुत कोमल हृदय वाले हैं जो मेरे किये हुए घोर अपराध की तुलना में बहुत थोड़ा दण्ड देते हैं। हाय ! मेरे अपराध तो बालुका-कणों से भी अधिक और अंजनगिरि से भी अधिक काले हैं। सागरोपम काल में भी दुर्भोग्य हैं, हजार बार मर जाने पर भी उनका हलका होना कठिन है। जो थोड़े समय में मुझ महामलिन को छेदन-भेदन, ताड़न, मारण द्वारा निर्मल बनाना चाहते हैं, और मेरे भारी पाप-भार को हल्का करने की चेष्टा करते हैं, ये तो मेरे परम मित्र हैं। क्यों न मैं हृदय से इनकी श्लाघा करूँ।"

अथवा इसमें नवीनता क्या है ? दूध को मथने से ही घृत निकलता है,

शाण पर चढ़ने के बाद ही मणि राजाओं के मस्तक को अलंकृत करती है, तीव्र ताप से तपाया हुआ सोना ही निर्मलता पाता है, जमीन को खोदने पर ही चन्द्र-किरण जैसा धवल पानी प्रकट होता है। अहो! क्षमा ही मुमुक्षुओं का अलंकार है। क्षमा ही भिक्षुओं का अमोघ शस्त्र है। तप से कृशकाय तपस्वियों के लिए क्षमा ही महाबल है। 'क्षमा' नाम से ही 'सर्वसहा' है, क्षमा अभिधा से भूत-धात्री है, क्षमा प्रत्यक्ष रत्नगर्भा है, क्षमा अचला है, क्षमा अनंता है और सारा चराचर विश्व क्षमाश्रित ही है (पृथ्वी का नाम भी क्षमा है, अतः ये विशेषण लगाये गये हैं।) इसलिए मैं भी क्षमा का सहारा लूं, भक्ति से सेवा करूँ और आनन्द से उसकी उपासना करूँ। इसके अतिरिक्त यातना तो शरीर को है, ज्ञानमय आत्मा को नहीं। शरीर के संयोग से ही, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,' जीव ऐसा अनुभव करता है। पिंजरे में बन्द पक्षी की भांति प्राणी शरीर-रूपी पिंजरे में अवरुद्ध, काल रूपी विलाव से संत्रस्त बन रहा है। अन्यथा पाँच शरीरों से मुक्त आत्मा स्वरूप से उपाधिरहित, अजर, अमर, अनंत, चिद्रूप और चिदानन्दमय है एवं सदा रहता है। इस देह-पिंजर की दुर्बलता से मेरी क्या क्षति है? परवशता ही प्रतिक्षण भयावह है। ये महाशय मुझे शीघ्र स्वाधीनता के दर्शन करायेंगे। क्यों न इन महामान्यों का मैं सम्मान करूँ? और क्यों न इन्हें प्रेमपवित्र दृष्टि से देखूँ!"

इस प्रकार नाना प्रकार की विशुद्ध विचारधारा से आत्मा को भावित करते हुए, निकृष्ट वस्तु में भी श्रेष्ठता को खोजते हुए, कटुता में भी मिष्टता पैदा करते हुए, क्रोध के स्थान पर भी शान्ति का अनुशीलन करते हुए, विषाद में प्रसाद मानते हुए अर्जुन मुनि नगर में घूमने लगे। प्रत्युत्तर देना तो दूर रहा, ललाट पट्ट पर वे भृकुटि भी नहीं तानते। केवल समता भाव की ही परिशीलना करते थे।

कुछ चिन्तनशील लोग पूर्व-कृत तीव्रतम अपराध को भी भुलाकर वर्तमान मुनिधर्मावलम्बन का आदर करते हुए सानन्द प्रणाम करते और सत्कार सहित भिक्षा भी देते। वहाँ भी, अर्जुन मुनि, वन्दना करने वालों को देखकर आनन्दित नहीं होते, किन्तु रागद्वेष को छोड़कर 'सबका भला हो' ऐसा मन में विचार कर चेतन और शरीर की भिन्नता मान कर धर्म एवं शुक्ल ध्यान ध्याते हुए निर्मल संयम पालने लगे।

इस तरह घोर तपस्या करते हुए अर्जुन मुनि को कभी पानी प्राप्त होता तो भोजन नहीं, भोजन मिलता तो पानी नहीं! भयानक परीषहों को सहते हुए, उदार विचारधारा को बढ़ाते हुए, अपनी आत्मा में परमात्मभाव का

अनुभव करते हुए, ध्यान रूपी-अग्नि से भीषण पापों को जलाते हुए, क्षण-क्षण में अपनी विशुद्धता प्रगट करते हुए महामुनि अर्जुन के धीरे-धीरे बाह्य और आन्तरिक सारे क्लेश निःशेष होने लगे।

छह मास तक दीक्षापर्याय पालकर भावों के उत्कर्ष से क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर बारहवें गुणस्थान की आदि में मोह-महामल्ल को पछाड़कर और तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में शेष तीन घनघाती कर्मों को नष्ट कर उन्होंने लोकालोक प्रकाशक, समस्त द्रव्यपर्यायों का साक्षात्कार करने में समर्थ केवल ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद ही सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती नामक शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद का अवलम्बन करके मन-वचन-काय के तीनों योगों का और श्वासोच्छ्वास का क्रमशः निरोध कर पाँच ह्रस्वाक्षर-उच्चारण काल की स्थिति वाले समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान के चौथे भेद को ध्याते हुए चौदहवें गुणस्थान में पहुँचकर शैलेशीभाव को प्राप्त किया। फिर शरीर-त्रिक का परित्याग कर ऋजुगति से एक ही समय में साकार उपयोग सहित निर्वाण को प्राप्त हुए। आठ कर्मों के क्षय से प्राप्त अनन्त ज्ञान, दर्शन, आत्मिक सुख आदि आठ सिद्ध गुणों से शोभित, अपुनरागति तुष-रहित चावल के दाने के समान, अपुर्नजन्मा, अनंत, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये।

—oooooo—

काव्यकर्त्ता की प्रशस्ति

१—दु:साध्य मिथ्यात्व रोग को नाश करने वाले, परोपकारपरायण, अति-पटु, अलोभी, अनुभवी और यशस्वी आचार्य श्री भिक्षु एक वैद्यराज के समान हुए।

२—उनके शिष्य श्री भारीमालजी हुए, गुण के सागर श्री रायचंदजी तीसरे, विज्ञश्रेष्ठ चौथे श्री जीतमलजी फिर पाँचवें मघवागणि हुए।

३—छट्ठे श्री माणिकलालजी नाम से और उनके बाद बड़े प्रतापी डाल-चन्द्रगणि हुए। आठवें पट्ट को शोभित करने वाले छोगांजी के पुत्र श्री कालू-गणि हुए।

४— श्री कालूगणि की सेवा करने वाले अज्ञ भी प्राज्ञ, मूक भी वक्ता और निंदनीय भी वंदनीय बन गये।

५—उनके शासनकाल में शासन को जो गौरव प्राप्त हुआ वह विज्ञ मनुष्यों से छुपा नहीं है। उनके वरदान स्वरूप महान् गणीन्द्र तुलसी को प्राप्त कर कौन प्रसन्न नहीं होता?

६—श्री तुलसी गणि की विशाल विद्या, विधियुक्त विधान, ओजस्विनी वाणी, सफल प्रयास और विचारसूक्ष्मता किन-किन गुणियों को विस्मित नहीं बनाती है?

७—उनकी कृपा से, लघु विद्यार्थियों की बोधवृद्धि के लिये, यह छोटा-सा श्रम मैंने किया है।

८—यदि इसमें रसादि दोष हों तो कृतज्ञ विज्ञ उन्हें गुण रूप में परिणत करें। क्या कड़वे फूलों में भी मिष्ट मधु नहीं मिलता?

९—वि० संवत् २००५ के जेष्ठ महीने के कृष्ण पक्ष में शतावधानी श्री धनमुनि तथा साध्वी श्री दीपाँजी का लघुभ्राता मुनि चन्दन इस रचना को पूर्ण करता हुआ कल्याण का भागी बना।

लेखक की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ

—: ※※ :—

संस्कृत :

आर्जुनमालाकारम्
प्रभवप्रबोधः *
अभिनिष्क्रमणम् *
ज्योतिःस्फुलिङ्गाः
उपदेशामृतम् *
वैराग्यैकसप्ततिः *
प्रबोधपञ्चपञ्चाशिका *
अनुभवशतकम्
संवरसुधा
गीतिका त्रयोदशी
प्रास्ताविकश्लोकशतकम् *
पञ्चतीर्थी
आत्मभावद्वात्रिंशिका *
पथिकपञ्चदशकम् *
आम्रषोडशकम् *

प्राकृत :

रयणवालकहा *
जयचरिअं *
णीई—धम्म—सुत्तीओ *

हिन्दी :

अन्तर्ध्वनि
राजहंस के पंखों पर
मौनवाणी
मलयज-मुक्तावली
मलयज की महक
संतों के सुनहरे शब्द
अध्यात्म-पदावली
सोना और सुगन्ध
व्याख्यान-बत्तीसी *
गुर्जर गीताञ्जली (गुजराती)*
पंजाब पच्चीसी *

---

* अप्रकाशित



जन्म—वि० सं० १६

दीक्षा—वि० सं० १६

अग्रगण्य—वि० सं०

साहित्यनिकाय-व्यवस्
फाल्गुन कृष्णा

- अष्टमाचार्य श्री क
दीक्षा लेकर आ
दर्शन, न्याय, काव
- बचपन से कविता
स्वाध्याय-चिन्तन,
सर्जन में विशेष सं
- शिशु-सा सरल म
एवं कर्मठता, वृद्ध-
क्वता, सच्चे संत-
- सरल-सरस-कविता
वक्तृत्व ! निश्छ
सा सुकुमार एवं चु
- संस्कृत, प्राकृत, हि
राजस्थानी आदि
की अस्खलितगति